श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत

सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूत

तत्त्वानुशासन

नामक

ध्यान-शास्त्र

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्य से अलंकृत

सम्पादक और भाष्यकार

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

संस्थापक, वीर सेवा मंदिर

दिगम्बर जैन महिला शास्त्र सभा

पुस्तक प्राप्ति स्थान

१ श्रीमति अशर्फी देवी जैन
दि० जैन **महिलाश्रम, घटा मस्जिद**
दरियागज, नई दिल्ली-२

२ श्रीमति सावित्री जैन
श्री हुकुमचद **जैन चैत्यालय जी**
७ न० दरियागज, नई दिल्ली-२

३ बिशम्भरदास महावीर प्रसाद जैन
१३२५, चादनी चौक, दिल्ली-६

४ प्रकाश चन्द शील चन्द जैन ज्वैलर्स
१२६६, चादनी चौक, दिल्ली-६

प्रकाशक — दिगम्बर जैन महिला शास्त्र सभा
अहिसा मदिर, १ दरियागज, नई दिल्ली-११०००२

मूल्य — स्वाध्याय

सस्करण — १९९४

मुद्रक — समक्ष आफसैट प्रोसेस
जे-११८०० प्रथम तल
पचशील पार्क, नवीन शाहदरा
दिल्ली-३२

मेरी अपनी बात

बचपन से ही मुझे सम्यक्त्व प्राप्ति की तीव्र रुचि थी । स्वाध्याय की भी मै अत्यत रसिक थी । अध्यात्म ग्रन्थ ही मुझे अधिक प्रिय लगते थे । वैसे तो चारो अनुयोगो की साधना चलती थी । ग्रथो को समझने का और उन बातो को ग्रहण करने का पूरा-पूरा प्रयत्न करती थी । सिर्फ पढ़ने सुनने से कुछ नही होता । यदि कुछ उपयोग स्थिर हो जाता है तो कुछ पुण्य का बध हो जाता है और यदि सासारिक इच्छा से शुभ क्रिया की जाती है या दिखावे के लिये की जाती है तो पाप का ही बध होता है । 'स्वाध्याय परम तप है' स्वाध्याय का अर्थ है कि जो पढ़ो उसे अपने आचरण मे लाओ कि मुझ मे यह भूले है जो नही होनी चाहिये । केवल इस चितवन से भी कुछ न होगा । उन त्रुटियो को ईमानदारी से दूर करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिये । ससारी कार्य तो मै कुछ कर ही नही सकता । वह तो कर्माधीन ही है । परन्तु हम यह मान लेते है कि मैने ऐसा किया जब कि हमारा चाहा कुछ भी नही होता । और जो कार्य मै कर सकता हूँ उसे करने का तो मैने कभी प्रयत्न ही नही किया । यदि कोई सम्यक् दर्शन का पुरुषार्थ करे तो ७० कोड़ा कोड़ी का कर्मबध **अन्तः** कोड़ा कोड़ी मे आ सकता है और **धर्म पुरुषार्थ से ही काल लब्धि आ जाएगी ।** काल लब्धि तो सम्यक् दर्शन के पुरुषार्थ से ही आएगी । पहले स्वाध्याय से उसे समझे, खूब डट कर स्वाध्याय करे जीवन स्वाध्यायमय हो जाए । स्वाध्याय सिर्फ सम्यक् दर्शन की ही भावना से करे और कोई भी दूसरी इच्छा न हो । एक ही लक्ष्य लेकर चले कि "हे भगवन ! मै तुम जैसा ही वीतरागी हो जाऊँ । ससार का धन-वैभव, पचेन्द्रियो के विषय भोग मुझे नही चाहिये । स्वर्ग चक्रवर्ती पद कुछ भी मुझे नही चाहिए । मुझे तो सिर्फ अपना (आत्म) दर्शन ही चाहिये ।" ईमानदारी से यदि सिर्फ ये ही भावना होगी तो कर्मो मे खलबली मच जाएगी । ७० कोड़ा कोड़ी का बध **अन्तः** कोड़ा कोड़ी मे आ जाएगा और सम्यक् दर्शन होकर ससार की जड़ कट जाएगी । जड़ कटा हुआ पेड़ ज्यादा दिन हरा भरा नही रह सकता ।

तत्त्वानुशासन रामसेन आचार्य के गुरू नागसेन आचार्य विरचित है । यह मूल ग्रन्थ है जो कही भी उपलब्ध नही था । सो मेरे ऐसे भाव हुए कि यह

छपे। इस ग्रन्थ के पढ़ने सुनने से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो सकती है बशर्ते यह ग्रन्थ सिर्फ सम्यक् दर्शन के ही अभिप्राय से पढ़ा, सुना जाए सिर्फ एक ही भावना हो कि हे भगवन ! मुझे आत्म दर्शन हो जाए। पुण्य की इच्छा तो जहर है। देव दर्शन, शास्त्र स्वाध्याय, गुरूपासना से सिर्फ यही भावना होनी चाहिये हे भगवन् ! मुझे तो आप जैसा वीतरागी ही बनना है। भगवन् ! मुझे और कुछ भी नही चाहिये, सिर्फ मुझे वीतरागता की ही चाह है। वीतरागता की चाह के साथ ही यह चाह भी जरूर होती हैं कि हे भगवन् ! मुझे सम्यक् दर्शन प्राप्त हो। इस भाव मे इतनी शक्ति है कि पच परावर्तन, अर्द्ध पुद्गल परावर्तन मे आ जाता है, और प्रथम उपशम सम्यकत्व की प्राप्ति हो जाती है। यदि यह जीव तीव्र पुरुषार्थ मे लगा रहे और मिथ्यात्व का उदय न आए तो क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। इसके जन्म-जन्म के दुख दूर हो जाते है। यह अभी, वर्तमान मे ही सुखी हो जाता है। स्वभाव दृष्टि का निरतर अभ्यास करते ही रहना चाहिये। हर समय के अभ्यास से इसकी यह स्थिति स्वत होने लगेगी। यदि कभी तीव्र कषाय का उदय आए तो स्वभाव की ओर ही झुक जाओ। कषाय पानी की तरह से बह जाएगी। स्वभाव दृष्टि का अभ्यास कोई मुश्किल बात नही है, एकदम ही आसान है। कोई भी कार्य करते हुए स्वभाव दृष्टि कर सकते है, ज्ञाता द्रष्टा रह सकते है। चलते हुए ज्ञाता दृष्टा रहना आसान है। इसकी पहचान यह है कि उस समय अदर कोई भी विकल्प विचार नही होगा। विकल्प यदि आ गया तो स्वभाव से खिसक गया। तत्त्वाज्ञान प्राप्त करना कठिन नही है परन्तु करने वाला तीव्र रुचिवान होना चाहिये। अत्यत तीव्र लगन, धुन, उत्साह होना चाहिये कि हे भगवन् ! मुझे कुछ भी नही चाहिये सिर्फ आत्मज्ञान ही चाहिये। यह शब्दो से कहना नही है अपितु यह भावना अतरग मे निरतर होनी चाहिये।

जिस जीव को सम्यक्त्व की तीव्र लगन हो उसके व्यवहार चारित्र तो स्वयमेव आने लगता है। सप्त व्यसन का त्याग तथा अष्टमूल गुण के पालन के अतिरिक्त हर प्रकार के अन्याय, अनाचार, तथा अभक्ष्य से बचने का पुरुषार्थ वह करता है। आत्म दर्शन की धुन वाला व्यक्ति जिनदेव के दर्शन न करे यह तो सभव ही नही है, क्योंकि वही उसके जीवन के आदर्श है। ससार शरीर

भोगो मे उदासीनता तथा कषाय की मंदता के बल पर ही वह इस मार्ग पर चल सकता है।

सम्यक् दर्शन प्राप्ति की भावना वाले के अन्य दूसरी भावना हो ही नही सकती। उसकी तो भूख भी उड़ जाती है, रातो की नीद भी उड़ जाती है। अतरग मे एक ही चाह, एक ही धुन कि हे भगवन्! मुझे आत्मदर्शन हो जाये। तीन लोक की सपदा मुझे नही चाहिये। मुझे तो सिर्फ वीतरागता ही चाहिये। मै तो सिर्फ तुम जैसा ही बनना चाहता हूँ। अपने अदर गहराई मे जाकर ईमानदारी से देखो कि सम्यक् दर्शन के सिवाय मेरे अदर और इच्छा तो नही है? किसी को यदि सम्यक् दर्शन प्राप्त नही हो रहा है तो जरूर कोई और अदर मे इच्छा है, वहाँ से यदि छूटे तो आत्मा की शक्ति आत्मा मे ही लगे। जहाँ रुचि होती है आत्मा की शक्ति वही लगती है। धन के बिना कैसे होगा? बुढ़ापे मे क्या होगा? छोड़ो इन विकल्पो को, चिन्ता को, जो होना है वह निश्चित ही है। आगे क्या होगा यह केवली भगवान तो देख ही चुके है और हम जब होगा तब देख लेगे। जो होना है वह तो होकर ही रहेगा उसमे कोई भी रद्दोबदल नही कर सकता। हमारा चाहा कुछ भी नही होता और न ही हम कुछ कर सकते है। मैने यह किया, वह किया, यह हमारा सिर्फ भ्रम ही है। सब कुछ ही कर्माधीन ही है, करने-करने का बोझ यदि हमारे सिर से उतर जाए तो हमारे विकल्प कम हो जाएँ। वास्तव मे हमारी शक्ति दूसरो को ही बदलने मे लगी है। वही शक्ति पलट कर स्वभाव मे लग सकती है। यदि शक्ति बाहर बहती है तो विभाव रूप परिणमन करती है, कषाय रूप परिणमन करती है और यदि स्वभाव की ओर झुके तो वहाँ शान्ति के सिवाय कुछ है ही नही। पर मे लगने से तो दु ख ही दु ख है। मै दूसरो को नही बदल सकता, अपने को ही बदल सकता हूँ यह निश्चित ही है। कैसा भी तीव्र से तीव्र अशुभ का उदय आए यदि हम उसमे जुड़े नही अर्थात् उसके कुछ भी विकल्प नही करे तो हम दु खी नही हो सकते। करके देख लो।

ज्ञानी भाई गलती सुधार कर पढ़े। जो कुछ गलतियाँ हो क्षमा करे।

धन्यवाद।

प्रेम लता जैन
सूर्य नगर

प्रस्तावना

(आत्मध्यान)

ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाली चेतन आत्मा के साथ राग-द्वेषादि विकारी . परिणाम, अष्टकर्म तथा शरीरादि नो कर्म एक साथ एक जगह मिले हुए है, जैसे ठण्डाई मे बादाम, चीनी, काली मिर्च, सौफ आदि कई वस्तुएँ पीसकर मिलाकर एक तरल पेय पदार्थ बनाया जाता है। परन्तु इतना मिलाने पर भी कोई भी वस्तु अपने स्वाद को नही छोड़ती, काली मिर्च अपने स्वभाव को नही छोड़ती, चीनी अपने स्वभाव को नही छोड़ती। सभी अपने-अपने स्वभाव को लिये हुए मानो अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की उद्घोषणा कर रहे है और अपने-अपने स्वरूप मे ही स्थित है क्योकि पर के अस्तित्व को कोई छूता ही नही, पर-रूप कभी कोई होता ही नही। यही वस्तु की मर्यादा है। उनके पृथक्-पृथक् स्वाद को जानने वाला एक अन्य व्यक्ति है जो उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को बता रहा है।

इसी प्रकार चेतन आत्मा के साथ भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म एक साथ मिले होने पर भी चेतना अपने और इनके स्वरूप को अलग-अलग जान सकता है। दृष्टान्त मे जानने वाला ठण्डाई से अलग व्यक्ति है जबकि दृष्टान्त मे चेतना स्वय ही अपने और कर्मो के स्वरूप को जानने वाला है। वस्तु स्थिति ऐसी होते हुए भी, अपने स्वरूप से अनभिज्ञता के कारण यह चैतन्य उन सब सयोगो के पिण्ड को ही अपना अस्तित्व समझ रहा है। अत स्वय को रागादि, शरीरादि, कर्मादि के साथ एक रूप जान रहा है, मान रहा है और स्वय को उसी रूप अनुभव कर रहा है। किन्तु एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा चैतन्य है। वह शरीरादि रूप न तो कभी हुआ और न ही कभी हो सकता है। उसकी निजी सत्ता मे किसी भी पर द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता। अत वह अन्य द्रव्य रूप नही हो सकता, अन्य द्रव्य उस रूप नही हो सकता।

इस वस्तु स्थिति से अनभिज्ञ होने के कारण जीव स्वय को निरन्तर पर रूप-रागादि कषाय रूप, शरीर रूप व कर्म फल रूप मनुष्य देव नारकी-तिर्यच, स्त्री-पुरुष नपुसक, सुखी-दुखी, अमीर-गरीब, स्वस्थ-रोगी अनुभव करता है। कर्मोदय के अनुसार होने वाली बाह्य स्थिति मे अपनापन मानता है, उसमे इष्ट-अनिष्ट कल्पना करके निरतर राग-द्वेष करता है और सुखी-दु खी होता है। इस प्रकार आगामी काल के लिए पुन नवीन कर्म बध कर लेता है।

कर्म का उदय ज्ञानी-अज्ञानी सभी के आता है और अपने समय पर आता है। वह कर्म का उदय हमारी इच्छा के अनुसार कल्पना के अनुसार अथवा हमारे करने के आधीन नही है। प्रत्येक जीव का शरीर और बाह्य परिस्थितियाँ अमीरी-गरीबी, स्वस्थता-अस्वस्थता आदि कर्मोदय के अनुसार होती हैं। किन्तु उनमे अपनापना माने या न माने, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करे या न करे, राग-द्वेष कम या ज्यादा करे अथवा स्वय को ज्ञान रूप अनुभव करे, इसमे जीव स्वतन्त्र है। जड़ शरीर तो यह कहता नही कि तू मुझे अपने रूप अनुभव कर। अनुभव करने वाला तो यही है। जड़ शरीर और कर्मो मे तो अनुभव करने की शक्ति ही नही है। चैतन्य ही अपने स्वभाव को न जानने के कारण उनमें अपनापना मानकर स्वय को अमीर-गरीब अनुभव करता है।

इस प्रकार शरीरादि मे एकत्वपना-अहपना-रागादि की उत्पत्ति का मूल कारण है और रागादि के कारण ही जीव दु खी है। दु ख का मूल कारण अथवा ससार का बीज कर्म-फल मे एकत्वपना ही है। यदि शरीर मे मैं पना आ रहा है तो उसके लिए अनुकूल वस्तुओ मे राग और प्रतिकूल मे द्वेष नियम से होगा। इसीलिए यदि शरीर मे एकत्व है तो तीन लोक के सभी पदार्थो मे आसक्ति विद्यमान है। इस अज्ञानता का मूल कारण स्वय को नही पहचानना है। यदि चेतन्य स्वय को चैतन्य रूप अनुभव करे तो शरीर मे रहते हुए भी उससे एकत्व नही होगा, धन हो सकता है लेकिन धनी होने का अहकार नही हो सकता।

अत निष्कर्ष यह निकला कि जीव यदि दु खी है तो अपनी कषाय के कारण दु खी है। क्रोधादि कषाय का कारण शरीरादि मे एकत्व है और उस एकत्व का कारण स्वभाव से अनभिज्ञता है। यदि यह अपने स्वभाव का ज्ञान करके स्वय को उस रूप-चैतन्य रूप अनुभव करे तो शरीरादि से एकत्व दूर हो और तब शरीर के लिए अनुकूल मे राग तथा प्रतिकूल मे द्वेष का भाव न आए। अत दो कार्य आवश्यक है–शरीरादि से भिन्न स्वय को देखना तथा स्वय मे ही रमण करना। जितने अशो मे स्वभाव मे स्थिरता होगी उतने अशो मे रागादि क्षीण होगे।

स्वय को शरीर रूप अनुभव करने का फल रागादि कषाय है। जितना शरीर के साथ एकत्व होगा उतने रागादि बढ़ते चले जायेगे और ज्ञान घटता

जायेगा। अत मे अक्षर के अनन्तवे भाग की स्थिति निगोद मे पूरी होगी। जितना स्वय को शरीरादि से भिन्न चैतन्य रूप अनुभव करेगा उतने रागादि कम होते जायेगे और ज्ञान बढ़ता जाएगा। एक दिन राग का पूर्ण अभाव कर यह आत्मा केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेगा। ज्ञान चेतना और कर्म चेतना दोनो साथ-साथ चल रही है। यह इसी पर निर्भर है कि यह स्वय को ज्ञान रूप अनुभव करे या कर्म रूप। स्वय को ज्ञान रूप अनुभव करने का फल अनन्त सुख और भव-भ्रमण से मुक्ति है। स्वय को कर्म-फल रूप अनुभव करने का फल अनन्त दु ख और जन्म-मरण है। अपने को अपने रूप अनुभव करके उसी रूप रहना ही सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र है, यही मोक्ष का उपाय है, यही परम आनन्द का मार्ग है और यही परमात्मा होने का विज्ञान है।

इस कार्य की पूर्ति के लिये जीव ने सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा की, उनकी पूजा-स्तुति, शास्त्र-स्वाध्याय, णमोकार मत्र की जाप व्रत उपवासादि सब कार्य किये। इनको करके इसने यह मान लिया कि मैने श्रावक के षट् आवश्यक पूरे कर लिये। इसको यह भ्रम हो गया कि यह मोक्ष-मार्ग का पथिक हो गया है और इनको करते-करते उसे सम्यक् दर्शन हो जाएगा। इन्ही को धर्म मानकर यह उसमे लगा हुआ है किन्तु अन्तर मे झाँक कर देखे तो यह पाए कि अहकार कम होने की जगह बढ़ रहा है। पहले शरीर, धनादि परिग्रह का अहकार था अब त्याग तथा शुभ क्रियाओ का अहकार हो रहा है। आसक्ति पहले से अधिक है। इसका कारण क्या है ? इस पर विचार करना है।

भगवान की भक्ति पूजा पाठ करने वाले तीन प्रकार के लोग है। प्रथम वर्ग मे वे लोग आते है जो पुण्य-बध के लिये अथवा विषय भोगो की पूर्ति के लिये शुभ मे लगे हुए है। उनका तो अभिप्राय ही ससार-शरीर भोगो का है। इस विपरीत अभिप्राय के कारण उनके तो पुण्य बध होना भी कठिन है। यह वर्ग भगवान को कर्ता मानता है, अत उनकी कषाय मे भी कमी नही आ पाती।

दूसरा वर्ग उन लोगो का है जो शुभ को मोक्ष मार्ग मानकर उसमे लगा हुआ है। उनकी मान्यता है कि इनको करते-करते सम्यक्-दर्शन की प्राप्ति हो जायगी। शुभ भावो से सवर-निर्जरा हो जायगी। वे लोग व्यवहारालम्बी है। उन्होंने या तो शुभ को ही धर्म मान लिया अथवा यह मान लिया कि शुभ

करते-करते शुद्ध हो जायगा । इन्हें पण्डित प्रवर टोडरमल जी ने निश्चय व्यवहारालम्बी कहा है । अत इन कार्यों मे रुचिपूर्वक लगे हुए हैं । इनके पुण्य बध तो हो जायगा परन्तु सम्यक्त्व अथवा वीतरागता की प्राप्ति नही होगी ।

तीसरा वर्ग उन लोगों का है जो सच्चे देव शास्त्र गुरु की भक्ति, पूजा-पाठ-स्तुति, शास्त्र-स्वाध्याय, णमोकार मत्र की जाप और व्रत-उपवासादि के साथ भेद-विज्ञान की भावना को निरन्तर मजबूत करते हैं, पुष्ट करते हैं । बिना भेद-विज्ञान के मोक्ष मार्ग नही हो सकता । अत इन सब कार्यो को साधन बनाकर इस प्रकार उनका अवलम्बन लेते है जिससे वे भेद-विज्ञान की पुष्टि कर सके, भेद-विज्ञान की भावना को प्रज्वलित कर सकें । ये जिन-दर्शन, पूजा-पाठ, स्तुति इस प्रकार करते है जिससे भेद-विज्ञान का भाव दृढ़ होता जाता है । यद्यपि इन शुभ कार्यो से पुण्य बध होता है परन्तु वे पुण्य-बध की अभिलाषा से यह कार्य नही करते । उन्हे पुण्य नही, आत्मानुभव चाहिए । उनकी रुचि भेद-विज्ञान मे है । अत. जब तक भेद-विज्ञान नही होता तब तक शुभ के माध्यम से उसी भावना को दृढ़ करते है । भेद-विज्ञान की भावना दृढ़ करते-करते वह इस भावनामय हो जाता है और एक दिन भावना की जगह अनुभूति ले लेती है ।

बालक गडूले का सहारा लेकर चलने का पुरुषार्थ करता है । आरम्भ मे वह बार-बार गिरता है किन्तु फिर भी हिम्मत नही हारता । हर बार फिर से उठकर खड़ा हो जाता है और पुन· चलने का पुरुषार्थ करने लगता है । आत्मार्थी भी भेद-विज्ञान के लिए शुभ का अवलम्बन लेता है और एक दिन बिना किसी अवलम्बन के अपने मे तल्लीन हो जाता है । यद्यपि यह अवस्था ऊपर के गुणस्थानो मे होती है लेकिन उसी की होती है जिसका एकमात्र लक्ष्य भेद-विज्ञान की प्राप्ति है । वह केवल उसी शुभ का अवलम्बन लेता है जो इस लक्ष्य-पूर्ति मे सहायक हो । उसके लिए क्रिया गौण है और यह भावना मुख्य है । इस भावना के अभाव मे उसे पूजा-स्तुति, जाप आदि सब अपूर्ण भासित होते है ।

यहॉ शुभ-क्रियाओ का निषेध नही है । परन्तु यदि इनके माध्यम से भेद-विज्ञान की भावना को पुष्ट न करे तो मात्र पुण्य-बध ही होगा । शारीरिक रोग के नाश के लिए जैसे औषधि को दूध, पानी, चासनी आदि विभिन्न पदार्थो के साथ लेते है वैसे ही भव-भ्रमण रूपी रोग के नाश के लिए भेद-विज्ञान रूपी

औषधि को इन शुभ क्रियाओं के माध्यम से लेना है। रोग का नाश तो औषधि से ही होगा। हमने औषधि तो ली नही, मात्र दूध-चासनी लेकर मान लिया कि रोग ठीक हो जायगा।

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से भेद-विज्ञान की भावना का अभ्यास करना है। वह अभ्यास ऐसा होना चाहिए कि मदिर के बाहर भी खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते हर हालत मे वह भावना चालू रहे। यह भावना भेद-विज्ञान की प्राप्ति की ओर उठाया गया पहला कदम है। यदि भावना ही मजबूत न हुई तो भेद-विज्ञान कहाँ से होगा ? मोक्ष मार्ग मे भेद-विज्ञान ही प्रारम्भ है और यही अत है अर्थात् इसको तब तक माना है जब तक यह चैतन्य 'पर' से पृथक् होकर 'स्व' मे लीन न हो जाए। कभी-कभी भावना इतनी बलवती हो जाती है कि आत्मानुभूति का भ्रम हो जाता है।

भावना तभी तक होती है जब तक आत्मानुभूति न हो। जब सूर्योदय हो जाता है तब सूर्योदय की भावना नही करनी पड़ती। शरीर के साथ एकत्व की भावना अनन्त काल से करते आ रहे है। जब से होश सम्भाला है शरीर को ही 'मै' माना है। अब उससे विपरीत अन्यत्व भावना को माना है। इतनी गहराई से माना है कि शरीर से एकत्व का सस्कार अचेतन मस्तिष्क की गहराइयो से भी निकल जाए। व्यक्ति यह भूल जाए कि मै मनुष्य हूँ और मेरा यह नाम है। यदि शरीर मे कहीं कॉटा चुभ जाए तो उसको निकालने के लिए सूई को उतनी ही गहराई मे ले जाना पड़ता है जितनी गहराई मे कॉटा है। इसी प्रकार शरीर के साथ एकत्व-बुद्धि जितनी गहरी है, अन्यत्व भावना रूपी सूई को उससे अधिक गहराई मे ले जाना है।

'मै' शरीर नही, कर्म नही, कर्म-फल नही। इस ब्रह्माण्ड मे चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ भी मेरा कभी न था, न है और न होगा। मेरा कोई माँ-बाप नही, क्योंकि मै अजन्मा हूँ। मेरे स्त्री-पुत्रादि नही क्योंकि चैतन्य किसी को पैदा नही करता। मै तो चैतन्य हूँ, अनादि से चैतन्य था और अनन्त काल तक चैतन्य ही रहूँगा। मै राग नहीं, द्वेष नही, क्रोध-मान-माया-लोभ नही, शुभाशुभ भाव नही। मै तो इन सबको जानने वाला ज्ञान-मात्र हूँ, ज्ञायक हूँ।' तू इस भावना को भा। यही भावना है जो तेरे लिए मोक्ष मार्ग का द्वार खोल देगी।

संमार का बीज क्या है ? वस्तुत इस पर हमने कभी गहराई पूर्वक चिन्तन-मनन किया ही नही । हम राग-द्वेषादि विकारी भावो से मुक्त तो होना चाहते हैं परन्तु उनकी उत्पत्ति का जो मूल कारण है, जो समस्त अन्याय-अनाचार की जड़ है–इस शरीर से एकत्व बुद्धि उससे अनभिज्ञ है । मूल रोग तो शरीर मे अह भाव है । क्रोध-मान-माया-लोभ, अन्याय-अनाचार तो उस रोग की बाह्य प्रतिक्रियाएँ मात्र है । प्रतिक्रियाओ पर प्रहार करना तो उतना ही निरर्थक है जितना कि वृक्ष की जड़ न काट कर उसकी पत्तियो को तोड़ना । जब तक वृक्ष की जड़ पर प्रहार नही होगा वह पुन हरा-भरा हो जायगा । झूठ-चोरी-अन्याय-अनाचार तो फूल-पत्ते है । जड़ तो शरीर और आत्मा को एक मानना है । यह एकत्व बुद्धि समस्त पापो के मूल मे विद्यमान होने के कारण महापाप है । अगर इसकी जड़ कट गयी तो पत्ते तो कुछ समय पश्चात् स्वय सूख जायेगे । इसलिये यदि प्रहार करना है तो शरीर-आत्मा के एकत्व पर करना है । इसके बिना ससार रूपी वृक्ष की जड़ नही सूखेगी । यदि पत्तो को तोड़कर पेड़ को नग्न भी कर दिया तो उसका अर्थात् त्याग का अहकार पैदा हो जायगा और पाप की जड़ वैसी-की-वैसी मजबूत रह जायगी । ससार रूपी वृक्ष के नाश के लिए पुण्य-पाप के स्थान पर भेद-विज्ञान पर दृष्टि केन्द्रित करनी है जिससे भेद-विज्ञान की भावना पुष्ट हो वही पुण्य है और जो भेद-विज्ञान की भावना से दूर ले जाए–वही पाप है । जिसने यह निर्णय किया कि भेद-विज्ञान के बिना भव-भ्रमण से मुक्ति सम्भव नही है वह शुभ-राग मे नही अटकेगा । चारो ओर से उपयोग को समेट कर उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर । और जब तक इसे प्राप्त न कर सके तब तक इसकी भावना को दृढ़ कर । मुक्ति का एकमात्र यही उपाय है जिसकी सिद्धि स्याद्वाद और अनेकान्त रूप वस्तु स्वरूप को समझने से है ।

यह जीव अनादि काल से पर्याय मूढ़ है । पर्याय मूढ़ शरीर और आत्मा को एक मानता है, कर्मो के साथ कर्ता-कर्म-सम्बन्ध मानता है तथा रागादि विकारी भावो को स्वभाव मानता है । जब द्रव्य दृष्टि की सही श्रद्धा होती है तब शरीर-आत्मा मे एकत्व बुद्धि के स्थान पर सयोग सम्बन्ध, द्रव्य कर्मो के साथ कर्ता-कर्म के सम्बन्ध के स्थान पर निमित्ति-नैमित्तिक सम्बन्ध तथा रागादि कषाय को स्वभाव के स्थान पर विकारी भाव मानता है । ऐसी श्रद्धा जब होती

है तब द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु का सही श्रद्धान होता है। तब व्यक्ति पर्याय में होने वाले विकारो को अपना दोष समझ कर उसे दूर करने के लिए स्वभाव का अवलम्बन लेता है। द्रव्य-दृष्टि का सही श्रद्धान होने के बाद पर्याय का द्रव्य दृष्टि रूप से कर्तापना नही रहता। अत उसके कर्तृत्व का अहकार भी नष्ट हो जाता है। पर्याय मूढ़ता दूर करने के लिए द्रव्य दृष्टि का ज्ञान जरूरी है और द्रव्य मूढ़ता दूर करने के लिए पर्याय दृष्टि का ज्ञान जरूरी है। द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु की सही श्रद्धा व ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है।

इस तत्व को समझने का उद्देश्य यही है कि अभी तक जो 'मै' और 'मेरा' कर्म-फल मे आ रहा था वह अब अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव मे आना चाहिए। यही ज्ञान दर्शन रूप 'मै' हूँ, और मात्र इतना ही 'मै' हूँ। जहाँ 'मै' नही बचा वहाँ 'मेरा' कैसे बचेगा ? जिसका 'मै' मर गया उसका ससार चला गया। इसी से मोह समाप्त होता है। जब तक 'मेरा' भीतर जड़ जमाए बैठा है तब तक मोह से मुक्त होने का प्रयास पाखण्ड होगा। जो 'मै' अभी धन को पकड़े था वही अब त्याग को पकड़ लेगा। 'मै' नही बदलता केवल 'मै' का विषयगत पदार्थ बदल जाता है। 'मै' उस विषय की जगह दूसरे विषय मे आ जाता है। ज्ञानी छ खण्ड के राज्य के भीतर भी 'मै' से मुक्त होकर जी सकता है और अज्ञानी वन मे नग्न खड़ा होकर भी 'मै' भाव से भर जाता है। 'मै' भाव ही वास्तविक शत्रु है। जहाँ-जहाँ अहकार का फैलाव है वहाँ-वहाँ मोह है, और-और की दौड़ है, जो मिल गया उसे बनाए रखने की कामना है। अज्ञानता मे जो 'मै' को मजबूत करे वही मित्र है और जो इसे ठेस पहुँचाए वही शत्रु है। मित्र से राग और शत्रु से द्वेष होना स्वाभाविक है।

'मै' एक अद्भुत सीढ़ी है। अगर 'पर' मे 'मै' पना है तो यह नरक मे उतरती है और अगर अपने मे-चैतन्य मे-'मै' है तो वह सीढ़ी मोक्ष मार्ग मे ले ाती है। किसी ने गाली दी। यदि भीतर अहकार की चिगारी है तो भीतर घाव है जिस पर वह गाली चोट करती है। अहकार सवेदनशील होता है। गाली तो दूर की बात यदि कोई नमस्कार न करे तो ठेस लग जाती है। यदि अहकार भीतर है तो बीज विद्यमान है, बस अवसर चाहिए। भीतर अशात होने की अनन्त सम्भावनाएँ पड़ी है। 'मै' का एक फोड़ा पक रहा है, मवाद भरी पड़ी है। जब तक बाहर से कोई आघात नही होता तब तक व्यक्ति शात

रहता है । लेकिन जरा-सा आघात होते ही तिलमिला उठता है । सन्यास की राख के भीतर भी अहंकार की आग है । यह अहंकार क्या है ? स्वयं को न जानकर कर्म-फल मे 'मै' पना ही अहकार है जो मात्र चैतन्य स्वभाव में 'मै' आने से ही मिट सकता है ।

स्तुति या प्रार्थना मे माँग होती है । ध्यान मे स्वय करने का बल और स्वय होने का भाव होता है । ध्यानी अपने भीतर खोजता है और पाता है कि वहाँ अधकार का नामोनिशा नही है, आलोक ही आलोक है । प्रार्थना तो तब तक है जब तक साधक भीतर जाने का साहस नही करता । शरीर से भिन्न चैतन्य स्वभाव को देखो । तुमही द्रव्य हो, तुम्ही दृश्य हो । स्वय को देखते-देखते अमृतमय हो जाना है । मनुष्य भव मे केवल यही कार्य करने योग्य है, शेष सब कुछ कर्मकृत है ।

ध्यान तो एक वैज्ञानिक विधि है–शात होने की । मौन होने की कला ही ध्यान है । निर्विकल्प स्थिति ही मौन है, जहाँ न कुछ विचारने को रहा, न कुछ पाने को रहा, मात्र ज्ञान का दीपक प्रज्वलित है । इसलिये ध्यान मे डूबो, अतर मे जागो, जहाँ अधकार नही है, असत् नहीं है, मृत्यु नही है । यहाँ प्रार्थना, पूजा-स्तुति करने को भी कुछ नही है । किस की प्रार्थना और किससे प्रार्थना ? ध्यान मे अपने भीतर जाना है, प्रार्थना मे किसी के पीछे जाना है ।

ज्ञान से उत्कृष्ट अन्य कोई सुख नही । ज्ञान ही वास्तविक सुख है । यहाँ ज्ञान से तात्पर्य शास्त्रीय ज्ञान से नही है परन्तु आत्मज्ञान से है जो ध्यान से ही उपलब्ध होता है । ध्यान से ही राग-द्वेषादि कषाय दूर हो सकते है । शारीरिक क्रिया और विकल्पो के अभाव मे होने वाली मन स्थिति मे भीतर का हीरा दमक उठता है । ध्यान की अग्नि से गुजर कर जो शेष रह जाता है वह सोना कुदन हो जाता है–वही ज्ञान है । उसे जिसने पा लिया उसने सर्वस्व पा लिया । उसे जिसने खो दिया उसने सर्वस्व खो दिया । ध्यान जगाता है । इसके लिए निर्विचार होना है, सहज, स्थिर, निष्क्रिय न शरीर की क्रिया, न मन की क्रिया, मात्र ज्ञान का दीपक प्रज्वलित रहे ।

इसके लिए सजगता का विशेष महत्व है । कोई भी कार्य मूर्च्छा मे न हो, हमारी जानकारी मे हो । चले तो जानकारी मे, उठे तो जानकारी में । हम दो

कार्य हर समय एक-साथ करते है। प्रत्येक शारीरिक क्रिया के साथ हमारी चिन्तन धारा अविराम बहती रहती है। किन्तु दोनो क्रियाएँ हमारी मूर्च्छा मे होती है। उसी मूर्च्छा को तोड़ना है। सजगता से अभ्यतर मे निरतर बहने वाली विचारधारा रुकने लगती है। दूसरा उपाय है साक्षी भाव। साक्षी भाव उसे कहते है जहाँ दोनो ओर दृष्टि हो। बाण जहाँ से चला उसका भी होश हो और जिधर गया उसका भी होश हो। जो कार्य हो रहा है उसको भी जानना है और जानने वाले को भी जानना है। जहाँ जानने वाले पर जोर रहता है वहाँ जिसको जाना वह मित्र दिखाई देने लगता है। तीसरा है ध्यान–जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय एक ही है, जहाँ द्वैत है ही नही। वही ज्ञान, वही ज्ञाता और वही ज्ञेय है।

विचार ध्यान मे बाधक है। उनको पूर्ण चेतना से देखना मात्र देखना है–विचार खो जायेगे। ध्यान मे धैर्य की विशेष आवश्यकता है। फल-प्राप्ति की अधीरता ध्यान बँटा देती है अत बाधक है। बीज को बोकर कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पहले लगता है सब गया। परन्तु एक दिन बीज फूट कर पौधे के रूप मे बाहर आ जाता है। जब तक अकुर बाहर नही फूटता तब तक मिट्टी के नीचे बीज का विकास होता रहता है। ऐसा साधक का जीवन है। अतीत अर्थात् स्मृतियों और भविष्य अर्थात् कल्पनाओ से मुक्त होकर ही ध्यान होता है। साक्षी रहो। यह तभी सम्भव है जब भेद-विज्ञान हो। तभी आनन्द मे प्रवेश होगा। उठकर गिरे थे, गिर कर उठेगे और एक दिन ध्यान मे खो जायेगे।

स्वाध्याय विचार की ही प्रक्रिया है जबकि ध्यान विचारातीत है। विचार मन द्वारा चितवन है जबकि ध्यान मनातीत है। चेतन मन जब 'स्व' या 'पर' को विषय बनाता है तब विचार है। ध्यान मे उससे ऊपर उठना है। जब चेतना के पास कुछ विचारने को नही रहता तब वह स्वय को जानती है। स्वाध्याय है स्वय के बारे मे जानना और ध्यान है स्वय को जानना। जिसको जान ही लिया उसके विषय मे सोच-विचार क्या करना ? मन का कार्य है विषय सन्मुखता, चाहे 'स्व' हो या 'पर'। परन्तु ध्यान दोनो से रहित है। मन को स्थिर करने की चेष्टा मे मन स्थिर नही होता है। हमे मात्र साक्षी बनना है। मन के भावो को रोकने से उनका दमन होता है, गहराई बढ़ जाती है।

अत. उन्हें रोके नहीं, कर्ता न बनें, मात्र द्रष्टा बने रहे। ध्यान अक्रिया है। उसे अन्य जगह लगाना या रूपान्तरण नहीं करना है। जाप मे भी कुछ करना है। वह मानसिक है। ध्यान है साक्षी रहना, मात्र जानना, करना नहीं।

चेतना तो मिली हुई ही है, सदा से है। लेकिन हम व्यस्त हैं। चाहे कोई धन मे व्यस्त हो, या शास्त्रों मे अथवा मन्दिर मे, परन्तु 'पर' में ही व्यस्त है। चेतना उसके लिए अनुपस्थित है जो कि सदा से है। व्यक्ति एक व्यस्तता से थक जाता है तो दूसरी मे लग जाता है। दुकान से थक जाता है तो मन्दिर मे लग जाता है। जबकि उसकी प्राप्ति अव्यस्त क्षणो में होती है। बस हमे तैयार होना है। वह तो है ही, बस हम ही नही है। स्वय का विस्मरण निद्रा है, स्वय का स्मरण जगाना है। किसी भी स्थिति मे स्वय को न भूले। उठते-बैठते, चलते-फिरते खुद को न भूले। 'मैं हूँ' इसकी जागरूकता सतत् रहे। फिर धीरे-धीरे 'मै' मिट जाता है 'हूँ' रह जाता है। क्रोध आए तो 'मैं' को न भूले, विकल्प आएँ तो जाननहार को न भूले। तो वे विदा हो जायेंगे। अंत मे 'मै' विदा होगा, फिर जो बचा वह बस 'वह' है।

यही आत्मध्यान मोक्ष की कुंजी है। आत्मध्यान मे वह मिलता है जो पहले कभी नही मिला। आचार्यो ने शुभ ध्यान के दो भेद किए है–धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। धर्म ध्यान के चार भेदो का अर्थ है डुबकी लगाने के चार घाट। पहले घाट का नाम पिंडस्थ है, दूसरे का पदस्थ, तीसरे का रूपस्थ और चौथे का रूपातीत। धर्मध्यान का घाट उथला है, दूर तक जाने के बाद पानी मिलता है और वहाँ भी गहरी डुबकी नहीं लगती है। उथले पानी मे दूर तक चलना चिंतन के अन्तर्गत आता है और मौका मिलते ही डुबकी का लगना ध्यान का काल हुआ। धर्म ध्यान मे वह काल कम है, चिंतवन अधिक है।

शुक्ल ध्यान मे घाट से उतरते ही डुबकी लग जाती है। उसके गहराई की दृष्टि से चार भेद किए गए है। पूरी गहराई मे नही उतरने पर ऊपर बुलबुले उठते रहते है, जो पहला पाया है। उन बुलबुलो का काभ द्रव्य से द्रव्यांतर, पर्याय से पर्यायान्तर होना है। अधिक गहराई मे कोई एक योग रहता है और फिर मात्र एक काय योग ही रहता है जहाँ द्वैत न रहकार बूंद समुद्र मे लीन हो जाती है। यह ध्यान की विधि है जिसका मूलाधार भेद-विज्ञान है।

इस ग्रन्थ में ध्यान के भेदो का वर्णन है। विचार और चिंतवन ध्यान नहीं अपितु ध्यान की कमी है। परन्तु व्यवहार मे वही पकड़ मे आता है अत. उसकी मुख्यता से वर्णन है। जैसे बर्फ जमाते हैं तो पहले नीचे का हिस्सा जमता है और ऊपर पानी रह जाता है वैसे ही जब तक पूर्ण एकाग्रता नहीं होती तब तक अबुद्धिपूर्वक विकल्प आते रहते हैं। किन्तु ध्यान तो एकाग्रता का ही नाम है, जो विकल्पातीत एव मनातीत है। ध्यान की एकाग्रता लाखो वर्षों के विपरीत सस्कारो को, राग के सस्कारो को निमिष मात्र मे नष्ट कर देती है। दिन मे दो बार--प्रात और साय ध्यान में अवश्य बैठना चाहिए। णमोकार मत्र अथवा तत्व-चितवन के माध्यम से उपयोग को पर से हटाकर स्वोन्मुख करना चाहिए। निरन्तर अभ्यास करने पर कभी-कभी शीतल जल की बूँदे आएँगी और फिर एक न एक दिन पानी की मूसलाधार वर्षा भी हो ही जायगी।

इस ग्रन्थ मे आत्म भावना को निरतर भाने पर जोर दिया है, जिससे अहकार-ममकार का अभाव होकर आत्म ध्यान की सिद्धि हो। इसके लिए अनेकात रूप वस्तु स्वरूप का ज्ञान भी जरूरी है। इन तीनो का अहकार-ममकार, भेद-विज्ञान की भावना तथा अनेकान्तात्मक वस्तु-स्वरूप-वर्णन ऊपर किया गया है। ग्रथकार ने यह भी बताया है कि स्वाध्याय से सामायिक की और सामायिक से स्वाध्याय की सिद्धि होती है। अत: आत्मध्यान के लिए स्वाध्याय परम आवश्यक है। जितना अधिक स्वाध्याय होगा उतनी आत्मध्यान मे निर्मलता होगी।

ध्यान का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया है कि ससार शरीर भोगो मे होने वाली एकाग्रता आर्त ध्यान के अन्तर्गत आती है। जहाँ 'पर' का अवलम्बन होता है वह व्यवहार ध्यान है और जहाँ स्व का अवलम्बन होता है वह निश्चय ध्यान है। ऐसा ही वर्णन अन्य ग्रन्थो मे भी आया है, जहाँ छठे-सातवे गुण स्थान मे अरहत सिद्ध के ध्यान को भी परिग्रह सज्ञा दी गई है। धर्म ध्यान चौथे, पाँचवे, छठे गुणस्थानो मे होता है जहाँ उपयोग चेतना मे डुबकी लगाकर फिर बाहर आ जाता है। आगे के गुण स्थानो मे डुबकी की गहराई बढ़ती जाती है। ध्यान के विषय मे जो विशेष महत्वपूर्ण बात बताई गई है वह यह है कि अरहत का ध्यान करते हुए वह अरहंतमय हो जाये अर्थात् भाव अरहत रूप हो जाय। यहाँ प्रश्न उठता है कि जो वस्तु जिस रूप मे स्थित है उसे उस

रूप मे ग्रहण न करके विपरीत रूप मे ग्रहण करना भ्रान्ति का सूचक होता है। जो आत्मा अरहत नही है उसका उस रूप मे ध्यान करना क्या भ्रान्ति नहीं है ? उसका समाधान यह किया है कि यहाँ भाव अरहत विवक्षित है, द्रव्य अरहत नही। जो आत्मा अरहत ध्यानाविष्ट होता है अरहत का ध्यान करते हुए उसमे पूर्णत लीन हो जाता है–वह उस समय भाव अरहत होता है। साधक आत्मा को जिस भाव से जिस रूप मे ध्याता है वह उसके साथ उसी रूप में तन्मय हो जाता है। इसके अतिरिक्त भावी अरहत पर्याय भव्य जीवो मे सदा द्रव्य रूप से विद्यमान है। अत सत् रूप से स्थित अर्हत पर्याय के ध्यान में विभ्रम कैसा ?

जिन शासन का सार है भेद-विज्ञान इसकी भावना को निरन्तर दृढ़ करना है और उसे प्राप्त कर चेतन को चेतन रूप अनुभव करे तथा आत्मध्यान मे स्थिर होकर परमात्म पद को प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कथन आया है वह उसी भेद-विज्ञान और आत्मध्यान की सिद्धि के लिये बाहरी अवलम्बन है।

यह ग्रन्थ पहले वीर सेवा मदिर से प्रकाशित हुआ था, प. प्रवर जुगल किशोर मुख्तार जी के विद्वत्तापूर्ण भाष्य के साथ। अब वह उपलब्ध नही है। आत्म-साधिका प्रेमलता जैन की इसे पुन प्रकाशित करवाने की भावना थी। अत उनकी प्रेरणा से शास्त्र-सभा मे बैठने वाली महिलाओ ने इसे छपवाया है। यह प्रयास निज पर कल्याणकारी है जिसमे श्रुत-सेवा तथा जन-सेवा का भी समावेश हो जाता है। इसके अध्ययन से विशेष ज्ञान-लाभ तथा आत्मानन्द की प्राप्ति हो। ग्रन्थ मुद्रक सुभाष जी भी प्रशसा के पात्र है जिन्होने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर रुचिपूर्वक इस ग्रन्थ को छपवाने का श्रम साध्य कार्य किया।

बाबूलाल जैन
सन्मति विहार
२/१० असारी रोड़
नई दिल्ली-११०००२
३२६३४५३

विषय-सूची

विषय-सूची

संकेताक्षर-सूची

अध्यात्मत०, टी०	=अध्यात्मतरंगिणी, टीका
अध्यात्म० र०	=अध्यात्मरहस्य
अन० टी०	=अनगारधर्मामृत-टीका
आ	=आदर्शप्रति जयपुर की
आत्मानु०	=आत्मानुशासन
इष्टो० टी०	=इष्टोपदेश-टीका
कार्तिकानु०	=कार्तिकेयानुप्रेक्षा
ज्ञाना०	=ज्ञानार्णव
गो० क०	=गोम्मटसार कर्मकाण्ड
ज	=जयपुर-दि० जैन तेरहपंथी बड़ा मंदिर-प्रति
जु	=जुगलकिशोर-प्रति
तत्त्वानु०	=तत्त्वानुशासन
तत्त्वा० वा०, भा०	=तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य
त० सू०	=तत्त्वार्थसूत्र
द्रव्यस०	=द्रव्यसंग्रह
ध्यानश०	=ध्यान-शतक
परमात्मप्र०	=परमात्मप्रकाश
परि०, प्रा०	=परिच्छेद प्राकृत
पंचा० पचास्ति०	=पंचास्तिकाय
भैरव-पद्मा०	=भैरव-पद्मावती-कल्प
भावपा०	=भावपाहुड
मु	=मुद्रित-मुम्बई-प्रति
मे	=आमेर-प्रति
युक्त्यनु०	=युक्त्यनुशासन
योगशा०	=योगशास्त्र
वसु० श्रा०	=वसुनन्दि-श्रावकाचार
विद्यानु०	=विद्यानुशासन
समय०	=समयसार
सर्वार्थ०	=सर्वार्थसिद्धि
सि	=जैनसिद्धान्तभवन आरा-प्रति
सि० भा०, भा०	=सिद्धान्तभास्कर, भाग
सि० भ०, सिद्धभ०	=सिद्धभक्ति

श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत

सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूत

तत्त्वानुशासन

नामक

ध्यान-शास्त्र

सानुवाद-व्याख्यारूप भाष्यसे अलंकृत

अर्हं

भाष्यका मंगलाचरण

ध्यान-अग्निसे जला कर्ममल, किया जिन्होंने आत्मविकास,
सब-दुख-द्वन्द्व-रहित होकर जो करते हैं लोकाऽग्र-निवास।
उन सिद्धोंको सिद्धि-अर्थ मैं वन्दूं धरकर परमोल्लास,
मंगलकारी ध्यान जिन्होंका, महागुणोंके जो आवास॥१॥

घातिकर्म-मल नाश जिन्होंने, पाया अनुपम-ज्ञान अपार,
सब जीवोंको निज-विकासका, दिया परम उपदेश उदार।
जिनके सदुपदेशसे जगमें, तीर्थ प्रवर्ता हुआ सुधार,
उन अर्हन्तोको प्रणमूं मैं भक्तिभावसे वारंवार॥२॥

तत्त्वोंका अनुशासन जिसमें, सिद्धि-सौख्यका जो आधार,
निश्चय औ' व्यवहार मोक्षपथ, प्रकटाता आगम अनुसार।
रामसेन-मुनिराज-रचित जो, ध्यान-शास्त्र अनुपम अविकार।
व्याख्या सुगम करूं मैं उसकी, निज-परके हितको उर धार॥३॥

मूलका मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

सिद्ध-स्वार्थानशेषार्थ-स्वरूपस्योपदेशकान् ।
पराऽपर-गुरून्नत्वा वक्ष्ये तत्त्वानुशासनम् ॥१॥

'**जिनका स्वार्थ सिद्ध होगया है**—जिन्होने शुद्ध-स्वरूप-स्थितिरूप अपने आत्यन्तिक (अविनाशी) स्वास्थ्यकी[1] साधना कर उसे प्राप्त कर लिया है—**तथा जो सम्पूर्ण अर्थतत्त्व-विषयक स्वरूपके उपदेशक हैं**—जिन्होने केवलज्ञान-द्वारा विश्वके समस्त पदार्थोंको जानकर उनके यथार्थ रूपका प्रतिपादन किया है—उन '**पर' और 'अपर' गुरुवोंको**—समस्त कर्म-कलंक-विमुक्त निष्कल-परमात्मा सिद्धोंको और चतुर्विध घातिकर्म-मलसे रहित सकल-परमात्मा अर्हन्तोको तथा अर्हद्वचनानुसारि-तत्त्वोपदेश-कारि-अन्यगणधर-श्रुतकेवली आदि गुरुवोंको—**नमस्कार करके मैं तत्त्वानुशासनको कहूँगा**—तत्त्वोंका अनुशासन-अनुशिक्षण जिसका अभिधेय-प्रयोजन है ऐसे 'तत्त्वानुशासन' नामक ग्रन्थ-की रचना करूँगा।'

व्याख्या—यह पद्य मंगलाचरणपूर्वक ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा-को लिये हुए है। मगलाचरण दो प्रकारके गुरुवोंको नमस्काररूप

---

१. स्वास्थ्य यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

है—एक परगुरु और दूसरे अपरगुरु। इन गुरुवोंके केवल दो ही विशेषण दिये हैं—'सिद्धस्वार्थान्' और 'अशेषार्थस्वरूप-स्योपदेशकान्।' इससे एक विशेषण परमगुरु सिद्धोंका और दूसरा अपरगुरु अर्हन्तों आदिका जान पड़ता है। यदि परमगुरुवों-में सिद्ध और अर्हन्त इन दोनों प्रकारके गुरुवोका ग्रहण किया जाय तो फिर अपरगुरुवोकी भिन्नताका द्योतक कोई विशेषण नही रहत; दूसरे सिद्धोके सिद्धावस्थामें दूसरा विशेषण नहीं बनता—भूतप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे भी वह सारे सिद्धोमें घटित नही होता; क्योकि कितने ही सिद्ध (मूक केवली आदि) ऐसे भी हुए हैं जिन्होने कोई उपदेश नहीं दिया। अतः परम-गुरुवोमें सिद्धोका ही ग्रहण यहाँ विवक्षित प्रतीत होता है।

यहाँ प्रथम विशेषणमें प्रयुक्त 'स्वार्थ' शब्द उस लौकिक स्वार्थका वाचक नहीं जो इन्द्रिय-विषयोंके भोगादिरूपमें प्रसिद्धि-को प्राप्त है; बल्कि स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें उस आत्मीय स्वार्थ (स्वप्रयोजन) का वाचक है जो आत्यन्तिक स्वास्थ्यरूप है—अविनाशी स्वात्मोपलब्धिके रूपमें स्थित है।

वास्तव-सर्वज्ञका अस्तित्व और लक्षण

अस्ति वास्तव-सर्वज्ञः सर्व-गीर्वाण-वन्दितः ।
घातिकर्म[1]-क्षयोद्भूत-स्पष्टानन्त-चतुष्टयः ॥२॥

'सर्वदेवोंसे वन्दित वास्तव सर्वज्ञ—सब पदार्थोंका यथार्थ ज्ञाता—कोई है और वह वह है जिसके घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ अनन्तचतुष्टय स्पष्ट होगया है—जिसने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका मूलतः विनाश कर अपने आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त

१. घातिकर्मक्षयादाविर्भूताऽनन्तचतुष्टयः। (आर्ष २१-१२३)

सुख और अनन्तवीर्य नामके चार महान् गुणोंको विकसित और साक्षात् किया है।'

व्याख्या—यहाँ सर्वज्ञका 'वास्तव' विशेषण खासतौरसे ध्यान देने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि संसारमें कितने ही विद्वान् अपनेको सर्वज्ञ कहने-कहलानेवाले हुए हैं तथा हैं, परन्तु वे सब वस्तुतः (असलमें) सर्वज्ञ नहीं होते, अधिकांश दम्भी, बनावटी या सर्वज्ञसे दिखाई देनेवाले सर्वज्ञाभास होते हैं; कोई ही उनमें सर्वज्ञ होता है, जिसे वास्तव-सर्वज्ञ कहना चाहिये। सबको, कहे जानेके अनुसार, सर्वज्ञ मान लेना और उनके कथनोंको सर्वज्ञकथित समझ लेना उचित नहीं; क्योंकि उनके कथनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है और सर्वज्ञोंके तात्त्विक कथनोंमें विरोध नहीं हुआ करता और न हो सकता है। तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वास्तवसर्वज्ञ किसे समझना चाहिये, जिसके कथनको प्रमाण माना जाय ? उसीका स्पष्टीकरण पद्यके उत्तरार्धमें किया गया है और यह बतलाया गया है कि घातिया-कर्मोंके क्षयसे जिसके आत्मामें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यरूप गुणचतुष्टय स्पष्टतया विकसित हो गया है उसे 'वास्तवसर्वज्ञ' समझना चाहिये।

सर्वज्ञके उक्त लक्षण अथवा स्वरूप-निर्देशसे एक खास बात यहाँ और फलित होती है और वह यह कि जैनधर्मकी मूल-मान्यताके अनुसार सर्वज्ञ वस्तुतः अनन्तज्ञ अथवा अनन्तज्ञानी होता है—दूसरोंकी रूढ मान्यताके अनुसार निःशेष विषयोंका ज्ञाता नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि वह अनन्तवीर्यसे सम्पन्न होनेके कारण अनन्तशक्तिमान् तो है, किन्तु सर्वशक्तिमान् नहीं। सर्वशक्तिमान् मानने पर उसमें जडको चेतन, चेतनको जड, भव्यको अभव्य, अभव्यको भव्य, मूर्तिकको अमूर्तिक और अमूर्तिकको

मूर्तिक बना देनेकी अथवा एक मूलद्रव्यको दूसरे मूलद्रव्यमें परिणत कर देनेको शक्तियाँ होनी चाहियें। यदि ये सब शक्तियाँ उसमें नहीं और इसी तरह लोकाकाशसे बाहर गमन करनेको तथा छूटे हुए कर्मोंको फिरसे अपने साथ लगाकर पहले जैसी क्रियायें करनेकी भी शक्ति नहीं तो फिर सर्वशक्तिमान् कैसे? यदि अनेकानेक शक्तियोंके न होने पर भी उसे सर्वशक्तिमान् कहा जाता है तो समझना चाहिये कि 'सर्व' शब्द उसमें विवक्षित-मर्यादित अर्थको लिये हुए है—पूर्णतः व्यापक अर्थमें प्रयुक्त नहीं है। यही दशा सर्वज्ञमें 'सर्व' शब्दकी है और इसलिये सर्वज्ञ अनन्त विषयोंका ज्ञाता होते हुए भी सर्वविषयोंका ज्ञाता नहीं बनता। यह बात विशेष ऊहापोहके साथ विचारणीय हो जाती है, जिसे यहाँ विस्तार-भय से छोड़ा जाता है।

सर्वज्ञ-द्वारा द्विधा तत्त्व-प्रकपण और तद्‌दृष्टि

ताप-त्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ ॥३॥

'उस वास्तव सर्वज्ञने तीन प्रकारके तापोंसे—जन्म, जरा (रोग) और मरणके दुःखोंसे अथवा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्टोंसे—पीड़ित भव्यजीवोंके लिये शिवसुखकी प्राप्तिके अर्थ तत्त्वको हेय (त्याज्य) और उपादेय (ग्राह्य) ऐसे दो भेदरूप वर्णित किया है।'

व्याख्या—यहाँ सर्वज्ञके तात्त्विक कथनकी दृष्टिको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि उस सर्वज्ञने तत्त्व-विषयक यह उपदेश संसारके भव्य-जीवोंको लक्ष्यमें लेकर उन्हें तापत्रयके दुःखोंसे छुड़ाकर शिवसुखकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे दिया है। सर्वज्ञका उपदेश भव्यजीवोंके द्वारा ही यथार्थ रूपमें ग्राह्य

होता है, अभव्योंके द्वारा नहीं। इसलिये भव्य-जीवोंको लक्ष्यमें लेकर वह दिया गया, ऐसा कहनेमें आता है; और उसके अनुसार आचरणसे चूंकि दुःखोंसे छुटकारा मिलता और शिवसुखतक-की प्राप्ति होती है, इसीसे इन दोनोंके उद्देश्यसे उसका दिया जाना कहा जाता है। अन्यथा, सर्वज्ञके मोहनीय कर्मका अभाव हो जानेसे परम वीतरागभावकी प्रादुर्भूति होनेके कारण जब इच्छाका अभाव हो जाता है तब यह विकल्प ही नहीं रहता है कि मैं अमुक प्रकारके जीवोंको लक्ष्यमें लेकर और अमुक उद्दृश्य से उपदेश दूं—उनके लिये सब जोव और सबका हित समान होता है और इसलिये अमुक जीवोंको लक्ष्यमें लेकर और अमुक उद्देश्यसे उपदेश दिया गया, यह फलितार्थकी दृष्टिसे एक प्रकारको कथन-शैली है। इससे सर्वज्ञके ऊपर किसी प्रकारकी इच्छा, राग या पक्षपातका कोई आरोप नहीं आता। उनका परम-हितोपदेशक-रूपमें परिणमन विना इच्छाके ही सब कुछ वस्तुस्थितिके अनुरूप होता है[1]।

सुखका 'शिव' विशेषण यहाँ सर्वोत्कृष्ट सुखकी दृष्टिको लिये हुए है। जिसे नि.श्रेयस, निर्वाण तथा शुद्धसुख भी कहते हैं[2]। जब हेय और उपादेय तत्त्वोकी जानकारीसे सर्वोत्कृष्ट सुख-

---

१. अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पि-कर-स्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥ (रत्नकरण्ड ८)
मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुर॥
काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाऽभवस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्।
(स्वयम्भूस्तोत्र ७३-७४)

२. जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥ (रत्नकरण्ड १३१)

को प्राप्ति सुलभ होती है तब दूसरे अभ्युदयरूप सांसारिक सुखोंकी तो बात ही क्या है, जो कि दुःखसे मिश्रित और अस्थिर होने आदिके कारण शुद्धसुखरूप नहीं हैं। और इसलिये सांसारिक सुखके अभिलाषियोंको यह न समझ लेना चाहिये कि हेयोपादेय-तत्त्वकी जानकारी उनके लिये अनुपयोगी है। वह किसीके लिये भी अनुपयोगी न होकर सभीके लिये उपयोगी तथा कल्याणकारी है; क्योंकि वह सम्यग्ज्ञानरूप होनेसे उस रत्नत्रय धर्मका एक अङ्ग है जिसके फल निःश्रेयस और अभ्युदय दोनों प्रकारके सुख है[1]।

तापों-दुःखोंकी कोई संख्या न होने पर भी यहाँ उनके लिये जो 'त्रय' शब्द-द्वारा तीनकी संख्याका निर्देश किया गया है वह दुःखोंके मुख्य तीन प्रकारोंका वाचक है, जिनमें सारे दुःखोंका समावेश हो जाता है।

हेयतत्त्व और तत्कारण

बन्धो निबन्धनं चाऽस्य हेयमित्युपदर्शितम्।
हेयस्याऽशेष-दुःखस्य[2] यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥४॥

'(उस सर्वज्ञने) **बन्ध और उसका कारण-आस्रव, इस तत्त्व-युग्मको हेयतत्त्व बतलाया है; क्योंकि हेयरूप**—तजने योग्य—**जो सम्पूर्ण दुःख है उसका बीज यह तत्त्व-युग्म** (दो तत्त्वोंका जोड़ा) है—सब प्रकारके दुःखोंकी उत्पत्तिका मूलकारण है।'

---

१. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्।
निःपिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥ (रत्नकरण्ड १३०)

२. मु मे हेयं स्याद्दुःख-सुखयोः।

व्याख्या—यहाँ जैनागम-प्रतिपादित सात अथवा नव तत्त्वोंमें-से आस्रव और बन्ध इन दो तत्त्वोको हेयतत्त्व बतलाया है; क्योंकि ये दोनों तत्त्व हेयरूप जो समस्त दु.ख है उसके बीजभूत हैं—इन्हींसे सारे दु खोंकी उत्पत्ति होती है। काय, वचन तथा मनकी क्रियारूप जो योग-प्रवृत्ति है उसका नाम आस्रव है[1]। वह योग-प्रवृत्ति यदि शुभ होती है तो उससे पुण्यकर्मका और अशुभ होती है तो उससे पाप कर्मका आस्रव होता है[2]। सात तत्त्वोकी गणना अथवा प्ररूपणामे पुण्य और पाप ये दो तत्त्व आस्रवतत्त्वमें गर्भित होते हैं और नव तत्त्वोंको गणना अथवा प्ररूपणामें उन्हें अलगसे कहा जाता है। बन्ध आस्रव-पूर्वक होता है—विना आस्रवके बन्ध बनता ही नहीं। इसीसे आस्रवको बन्धके निबन्धन-कारणरूपमें यहाँ निर्दिष्ट किया गया है।

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पुण्यकर्मका आस्रव-बन्ध तो सुखका कारण है और इसलिये ये दोनों तत्त्व सुखके भी बीज हैं; तब इन्हें अशेषदुःखके ही बीज क्यों कहा गया? इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है कि पुण्य भी एक प्रकारका बन्धन है, जिससे आत्मामें परतन्त्रता आती है—ससार-परिभ्रमण करना पड़ता है—और परतन्त्रता तथा संसार-परिभ्रमणमें वास्तविक सुख कहीं भी नहीं, आत्मा अपने स्वाभाविक सुखसे वंचित रह जाता है और उसका ठीक उपभोग नहीं कर पाता। इसीलिये आध्यात्मिक तथा निश्चयनयकी दृष्टिसे जो सुख पुण्यकर्मके फलस्वरूप इन्द्रियों-द्वारा उपलब्ध होता अथवा ग्रहणमें आता है उसे

१. काय-वाङ्-मनः-कर्म योगः। स आस्रवः। (त० सू० ६-१, २)

२. शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य। (त०सू० ६-३)

वास्तविक सुख न बतलाकर दुःख ही बतलाया गया है[1]। इस आध्यात्मिक ग्रन्थका लक्ष्य भी चूँकि पूर्वपद्यानुसार शिव-सुखको प्राप्ति कराना है, अतः इस ग्रन्थमें भी इन्द्रियजन्य सांसारिक विषय-सौख्यको अनेक दृष्टियोसे दुःख ही प्रतिपादित किया गया है[2]।

उपादेयतत्त्व और तत्कारण

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम्।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

'(उस सर्वज्ञने) **मोक्ष और मोक्षका कारण—सवर-निर्जरा, इस तत्त्वत्रयको उपादेय प्रगट किया है; क्योंकि उपादेयरूप—** ग्रहण करने योग्य—**जो सुख है वह इस तत्त्वत्रयके प्रसादसे प्राविर्भावको प्राप्त होगा**—अपना विकास सिद्ध करनेमें समर्थ हो सकेगा।'

व्याख्या—इस पद्यमें, उपादेय-तत्त्वका निरूपण करते हुए, यद्यपि मोक्षके साथ सवर और निर्जरा इन दो तत्त्वोका कोई स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है फिर भी **'तत्कारण'** पदके द्वारा मोक्षके कारणरूपमे इसी तत्त्वयुग्मका ग्रहण वांछनीय है; क्योंकि आगम-विहित सप्त अथवा नवतत्त्वोंमें इन्हींको गणना है और

---

१. सपर बाधासहिय विच्छिण्ण बंधकारण विसम।
जं इंदियेहिं लद्ध त सव्वं दुक्खमेव तहा ॥
(प्रवचनसार ७६)

२. यत् सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम्।
स्वपर-द्रव्य-सम्भूत तृष्णा-सन्ताप-कारणम् ॥२४३॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम्।
दुःखकारण-बन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥ (तत्त्वानु०)

इन दोनोके बिना मोक्ष बन ही नहीं सकता। संवर आस्रवके निरोधको और निर्जरा संचित कर्मोंके एकदेशतः क्षयको कहते हैं[1]। जबतक ये दोनों सम्पन्न नहीं होते तब तक कर्मोंसे पूर्णतः छुटकारारूप मोक्ष कैसा? अतः मोक्ष और मोक्षके कारण संवर तथा निर्जरा ये तीनों तत्त्व उपादेय-तत्त्वकी कोटिमें स्थित हैं। इन्हींके निमित्तसे आत्मामें उपादेय-सुखका आविर्भाव होता है।

यहाँ सुखका 'उपादेय' विशेषण और 'आविर्भविष्यति' क्रिया-पद अपना खास महत्त्व रखते हैं। 'उपादेय' विशेषणके द्वारा उस मोक्षसुखको सूचना करते हुए जिसे ग्रन्थके तृतीय पद्यमें 'शिवशम' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया है, उसे ही आदरणीय तथा ग्रहणके योग्य बताया है और इससे दूसरा सांसारिक विषय-सौख्य, जिसका स्वरूप पिछले पद्यके फुटनोटमें उद्धृत दो पद्योंसे स्पष्ट है, अनुपादेय, हेय अथवा उपेक्षणीय ठहरता है। प्रस्तुत मोक्षसुख घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत, स्वात्माधीन, निराबाध, अतीन्द्रिय और अविनाशी होता है[2], इसीलिये उपादेय है; जबकि सांसारिक सुख वैसा न होकर पराधीन, विनाशशील, दुःखसे मिश्रित, रागका वर्धक, तृष्णा-सन्तापका कारण, मोह-द्रोह-क्रोध-मान-माया-लोभका जनक और दुःखके कारणीभूत बन्धका हेतु होता है[3], और इसीलिये अनुपादेय है।

जिस मोक्ष-सुखको यहाँ उपादेय बतलाया है, वह आत्मामें कोई नवीन उत्पन्न नहीं होता और न कहीं बाहरसे आकर उसे

१. आस्रवनिरोधः संवरः। (त० सू० ९-१)।
एकदेश-कर्म-संक्षय-लक्षणा निर्जरा। (सर्वार्थ० १-४)

२. तत्त्वानु० २४२। ३. तत्त्वानु० २४३,२४४

प्राप्त होता है। वह वास्तवमें आत्माका निजगुण और स्वभाव है, जो कर्म-पटलोंसे आच्छादित रहता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वोंके द्वारा कर्म-पटलोंके विनाशसे वह प्रादुर्भूत एवं विकसित होता है। यही भाव 'आविर्भविष्यति' क्रियापदके द्वारा व्यक्त किया गया है।

बन्धतत्त्वका लक्षण और भेद

तत्र[1] बन्धः स्वहेतुभ्यो[2] यः संश्लेषः परस्परम्।
जीव-कर्म-प्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥६॥

'सर्वज्ञके उस तत्त्वप्ररूपणमें जीव और कर्म पुद्गलके प्रदेशों-का जो मिथ्यात्वादि अपने बन्ध-हेतुओंसे परस्पर संश्लेष है— सम्मिलन और एकक्षेत्रावगाहरूप अवस्थान है—**उसका नाम बन्ध है और वह बन्ध** (प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके भेद-से) **चार प्रकारका प्रसिद्ध है[3]।'**

व्याख्या—यहाँ बन्धतत्त्वका जो स्वरूप दिया है, उससे मालूम होता है कि यह बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोंका होता है। कर्म पुद्गल है और पुद्गल द्रव्य अजीवास्तिकायोंमे परिगणित है; जैसाकि **'अजीवकाया धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलाः.'** इस तत्त्वार्थ-सूत्रसे जाना जाता है। इससे जीव और अजीव ऐसे दो तत्त्व और सामने आते हैं. और इस तरह यह मालूम होता है कि मूल दो तत्त्व सात तत्त्वोंमें अथवा प्रकारान्तरसे पुण्य-पापको शामिल

---

१. जीव-कर्म-प्रदेशानां यः संश्लेषः परस्परम्।
द्रव्यबन्धो भवेत्पुंसो भावबन्धस्सदोषता ॥ (ध्यानस्तव ५५)

२. मु मे सहेतुभ्यो।

३. पयदि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेस-भेदा दु चदुविधो बंधो। (द्रव्यसंग्रह)

करके नौ तत्त्वोंमें बँटे हुए हैं। ये सब तत्त्व ही अध्यात्म-योगियोंके लिए मोक्षमार्गमे अथवा अपना विकास सिद्ध करनेके लिए प्रयोजनभूत हैं।

बन्धके इस कथनमें बन्धके मूल चार भेदोंकी मात्र सूचना की गई है, उनके नाम भी नहीं दिये गये—उन्हें केवल 'प्रसिद्ध' कहकर छोड़ दिया गया है। और यह ठीक ही है; क्योंकि बन्धके भेद-प्रभेदोंके कथनोपकथनोंसे जैनागम भरे हुए हैं। जिन्हें उनकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी हो वे उस विषयके आगम ग्रन्थोंको देख सकते हैं। इस ग्रन्थका मुख्य विषय ध्यान होनेसे ऐसे बहु-विस्तारवाले दूसरे विषयोंकी मात्र सूचना करदी गई है, जिससे ग्रन्थसन्दर्भ सहजसुखबोध, शृंखलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित बना रहे और किसीको मूल-विषयके परिज्ञानमें अनावश्यक विलम्ब होनेसे विषयान्तर होने-जैसी आकुलता अथवा अरुचि उत्पन्न न होवे। बन्धतत्त्वको विस्तारसे जाननेके लिये महाबन्ध, षट्खण्डागम, पंचसंग्रह, गोम्मटसार, कम्मपयडी, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थोंको उनकी टीकाओं-सहित देखना चाहिये।

बन्धका कार्य और उसके भेद

बन्धस्य कार्यः[1] संसारः सर्व-दुःख-प्रदोऽङ्गिनाम्।
द्रव्य-क्षेत्रादि-भेदेन स चाऽनेकविधः स्मृतः ॥७॥

'बन्धतत्त्वका कार्य संसार है—भव-भ्रमण है—जोकि देहधारी ससारी जीवोंको सब दुःखोंका देनेवाला है और वह द्रव्य-क्षेत्रादिके भेदसे—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भाव-परिवर्तनादिके रूपमें—अनेक प्रकारका है, ऐसा सर्वज्ञके प्रवचनका जो स्मृतिशास्त्र जैनागम है उससे जाना जाता है।'

---

१. ज कार्यं

व्याख्या—यहाँ संसारको बन्धका कार्य बताया है। संसारके दो अर्थ हैं—एक विश्व अथवा जगत्, दूसरा संसरण, परिभ्रमण अथवा परिवर्तन। पहले अर्थके अनुसार यह सब दृश्य जगत् बन्धका कार्य अवश्य है; क्योंकि वह जीव-पुद्गल और पुद्गल-पुद्गलके परस्पर बन्ध-द्वारा निष्पन्न हुआ है। यदि किसीका किसी-के साथ बन्ध न हो—जीव अपने शुद्ध सिद्धस्वरूपमें स्थित हों और पुद्गल अपने परमाणुरूप शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित हों तो यह दृश्यमान जगत् कुछ बनता ही नहीं और न प्रतीतिका कोई विषय ही रहता है। दूसरे अर्थके अनुसार जीवोंका जो यह जन्म-जन्मान्तर अथवा भव-भवान्तरकी प्राप्तिरूप परिभ्रमण और नानावस्थाओंका धारण है, वह सब बन्धका ही परिणाम है। बन्धसे परतन्त्रता आती है, स्वभावमें स्थिति न होकर विभाव-परिणमन होता रहता है। यही संसार है और संसार शब्दका यह दूसरा अर्थ ही यहाँ परिग्रहीत है, क्योंकि बन्धके प्रस्तुत स्वरूपमें जीव और कर्मपुद्गलोंके संश्लेषका ही उल्लेख है, पुद्गल-पुद्गलके संश्लेषका नहीं। इसी अर्थमें संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे पंच-परिवर्तनरूप है। इन पंच परिवर्तनोंकी भी यहाँ मात्र सूचना की गई है। इनका स्वरूप भी कुछ विस्तारको लिये हुए होनेसे प्रस्तुत ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ उसकी अधिक उपयोगिता न समझकर उसे छोड़ दिया गया है।

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि जब संसार द्रव्यादि-पंच-परावर्तनरूप है और इसलिए मूलमें प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द काल, भव तथा भावका वाचक है, तब उस संसारको **'अनेकविधः'** न कहकर **'पंचविधः'** कहना चाहिए था; ऐसा कहनेसे छंदोभंग भी कुछ नहीं बनता था? इसके उत्तरमें इतना ही निवेदन है

कि '**अनेकविध:**' पदका प्रयोग संसारके पंच-परिवर्तन-रूप मूल-भेदोंके अतिरिक्त उसके अवान्तर भेदोंको दृष्टिको भी साथमें लिये हुए है और इसलिये '**आदि**' शब्दको भी और अधिक व्यापक अर्थमें ग्रहण करना चाहिये।

बन्धके हेतु मिथ्यादर्शन आदि

स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

'**मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनों संक्षेपरूपसे बन्धके कारण हैं। बन्धके कारणरूपमे अन्य जो कुछ कथन** (कही उपलब्ध होता) है **वह सब इन तीनोंका ही विस्ताररूप है।**

व्याख्या—यहाँ बन्धके हेतुरूपमे जिन मिथ्यादर्शनादिक-का निर्देश किया गया है वे वे ही है जिनको स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) के '**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि**' नामक तृतीय पद्यमे प्रयुक्त '**यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भव-पद्धतिः**' इस वाक्यके द्वारा बन्धके कायरूप ससारका हेतु (मार्ग) बतलाया है। बन्धका हेतु कहो चाहे ससारका हेतु कहो, दोनो-का आशय एक ही है। प्रस्तुत पद्यमें '**अन्यस्तु त्रयाणामेवविस्तरः**' यह वाक्य खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि समयसार, तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थोंमें बन्ध-हेतुविषयक जो कथन कुछ भिन्न तथा विस्तृतरूपमें पाया जाता है वह सब इन्हीं तीनों हेतुओंके अन्तर्गत—इनमें समाविष्ट—अथवा इन्हीं मूल हेतुओंके विस्तारको लिए हुए है। जैसे समयसारमें एक स्थान पर मिथ्यात्व, अविरमण (अविरत) कषाय और योग

इन चारको बन्धका कारण बतलाया है; दूसरे स्थान पर इन चारोंका उल्लेख करते हुए इनमेंसे प्रत्येकके संज्ञ-असंज्ञ (चेतन-अचेतन) ऐसे दो-दो भेद करते हुए 'बहुविहभेया' पदके द्वारा बहुत भेदोंकी भी सूचना की है; तीसरे स्थान पर राग, द्वेष तथा मोहको आस्रवरूप बन्धका कारण निर्दिष्ट किया है और चौथे स्थान पर मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत-भाव और योगरूप अध्यव-सानोंको बन्धके कारण ठहराया है[1]। तत्त्वार्थसूत्रमे 'मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग इन पांचको बन्धके हेतु लिखा है[2]। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नामके वे ही चार बन्धके कारण दिये हैं जिनका उल्लेख समयसारकी १०६ वीं गाथामें पाया जाता है[3]। अन्तर केवल इतना ही है कि समयसारमें जिन्हें 'बन्धकर्तार' लिखा है उन्हींको गोम्मटसारमें 'आस्रवरूप' निर्दिष्ट किया है। यह कोई वास्तविक अन्तर नहीं है; क्योंकि मिथ्यात्वादि

---

१. सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्त अविरमणं कसाय-जोगा य बोधव्वा ॥१०६॥

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहि।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१६०॥(समयसार)

२. मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः (त०सू०८-१०)

३. मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा होंति—गो०क०-७८६

चारों प्रत्ययोंमें बन्धत्व और आस्रवत्वको दोनों शक्तियाँ उसी प्रकार विद्यमान हैं जिस प्रकार अग्निमें दाहकत्व और पाचकत्व-की दोनो शक्तियाँ पाई जाती हैं। मिथ्यात्वादि प्रत्यय प्रथम समयमें ही आस्रवके हेतु होते हैं, द्वितीय समयमे उन्हीसे बन्ध होता है और फिर आस्रव-बन्धकी परम्परा कथचित् चलती रहती है, जैसा कि अध्यात्मकमलमार्तण्डके निम्न वाक्योसे स्पष्ट है:—

चत्वार. प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो भावबन्ध-
श्चैकत्वाद्वस्तुतस्तो बत मतिरिति चेत्तन्न शक्तिद्वयात्स्यात्।
एकस्यापीह वन्हेर्दहन-पचन-भावात्म-शक्तिद्वयाद्वै
वन्हिः स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः॥
मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवास्रवे हेतवः स्युः
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित्।
नव्यानां कर्मणागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रव. स्याद्
आयत्यां स्यात्स बन्ध स्थितिमितिलयपर्यन्तमेषोऽनयोर्भित्॥

परिच्छेद ४

मिथ्यादर्शनका लक्षण

अन्यथाऽवस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम्।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥६॥

'मनुष्यों अथवा जीवोंके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे अन्य-रूपसे अवस्थित (यथावस्थित) पदार्थोंमें जो तद्भिन्नरूपसे रुचि-प्रतीति होती है वह मोह है और उसीको 'मिथ्यादर्शन' कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ 'दृष्टिमोहोदयात्' पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि यदि दर्शनमोह-नीय कर्मका उदय न हो तो अन्यथावस्थित पदार्थोंमें अन्यथा

रुचि-प्रतीतिके होने पर भी मिथ्यादर्शन नहीं होता। जैसे कि श्रेणिक राजाको क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे उसके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय नहीं बनता, फिर भी अपने पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के भावको उसने अन्यथारूपमें समझकर अन्यथा प्रवृत्ति कर डाली। इतने मात्रसे वह मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शनको प्राप्त नहीं कहा जाता; क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शनका कभी अभाव नहीं होता।

मिथ्याज्ञानका लक्षण और भेद

ज्ञानावृत्युदयादर्थेष्वन्यथाऽधिगमो भ्रमः।
अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिदं[1] त्रिधा ॥१०॥

'(दर्शनमोहनीयकर्मके उदयपूर्वक अथवा संस्कारवश) ज्ञानावरणीयकर्मके उदयसे (यथावस्थित) पदार्थोंमें जो उनके यथावस्थित स्वरूपसे भिन्न अन्यथा ज्ञान होता है, उसका नाम 'मिथ्याज्ञान' है और यह मिथ्याज्ञान संशय, भ्रम (विपर्यय) तथा अज्ञान (अनध्यवसाय, ऐसे तीन प्रकारका होता है।'

व्याख्या—ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे अज्ञानभाव होता है और यहाँ अन्यथाज्ञानकी बात कही गई है, वह इस बातको सूचित करती है कि ज्ञानावरणीय कर्मके उदयके साथ दर्शनमोहनीय कर्मका उदय भी लगा हुआ है अथवा उसके संस्कारोंको साथमें लिये हुए है। मिथ्याज्ञान दर्शनमोहरूप चक्रवर्ती राजाका आश्रित मन्त्री है, यह बात आगे १२वें पद्यमें स्पष्ट कीगई है और इसलिए उसे मोहके संस्कारोंसे विहीन ग्रहण नहीं किया जासकता

१. मु ज्ञानमिह।

और यही कारण है कि उसके भ्रम तथा संशयको साथ लेकर तीन भेद किये गये हैं, अन्यथा वह एक भेद अज्ञानरूप ही रहता। परस्पर विरुद्ध नाना कोटियोंका स्पर्श करनेवाले ज्ञानको संशय, विपरीत एक कोटिका निश्चय करनेवाले ज्ञानको भ्रम (विपर्यय) और 'क्या है' इस आलोचनमात्र ज्ञानको अज्ञान (अनध्यवसाय) कहते हैं। यथार्थज्ञानमे ये तीनो दोष नही होते।

मिथ्याचारित्रका लक्षण

[1]वृत्तमोहोदयाज्जन्तोः कषाय-वश-वर्तिनः।
योग-प्रवृत्तिरशुभा[2] मिथ्याचारित्रमूचिरे[3] ॥११॥

'(दर्शनमोहनीयकर्मके उदयपूर्वक अथवा संस्कारवश) **चारित्र-मोहनीयकर्मके उदयसे कषाय-वशवर्ती हुए जीवकी जो अशुभयोग-प्रवृत्ति होती है**—काय, वचन तथा मनकी क्रिया किसी अच्छे भले-शुभकार्यमे प्रवृत्त न होकर पापबन्धके हेतुभूत बुरे एवं निन्द्य कार्योंमें प्रवृत्त होती है—**उसको 'मिथ्याचारित्र' कहा गया है**।'

व्याख्या—मोहके मुख्य दो भेद हैं——एक दर्शनमोह और दूसरा चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे जिस प्रकार मिथ्यादर्शन-की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार चारित्रमोहके उदयसे मिथ्या-चारित्रकी सृष्टि बनती है। उस मिथ्याचारित्रका स्वरूप यहाँ मन-वचन-कायमेंसे किसी योग अथवा योगोंकी अशुभ-प्रवृत्ति-को बतलाया है और उसका स्वामी उस जीवको निर्दिष्ट किया है जो चारित्रमोहके उदयवश उस समय किसी भी कषाय अथवा नोकषायके वशवर्ती होता है। काय, वचन तथा मनकी क्रियारूप

---

१. मु वृत्तिमोहो। २. सि जु प्रवृत्तिमशुभा। ३. सि जु माचरे।

जो योग[१] यहाँ विवक्षित है उसके दो भेद हैं—एक शुभयोग और दूसरा अशुभयोग। शुभपरिणामोंके निमित्तसे होनेवाला योग शुभ और अशुभपरिणामोके निमित्तसे होनेवाला योग अशुभ कहलाता[२] है। अशुभयोगकी प्रवृत्ति अशुभ होती है और उसी अशुभ प्रवृत्तिको यहाँ मिथ्याचारित्र कहा गया है। हिंसा, चोरी और मैथुनादिमें प्रवृत्त हुआ शरीर अशुभ-काययोग है। असत्य, कटुक तथा असभ्य भाषणादिके रूपमें प्रवृत्त हुआ वचन अशुभ-वाग्योग है। हिंसादिककी चिन्ता तथा ईर्ष्या-असूयादिके रूपमें प्रवृत्त हुआ मन अशुभ-मनोयोग[३] है। इस प्रकार योगोंकी यह अशुभप्रवृत्ति, जो कृत-कारित-अनुमोदनके रूपमे होती है, पापास्रवकी हेतुभूत है और इसीसे मिथ्याचारित्र कहलाती है। दूसरे शब्दोंमें मनसे, वचनसे, कायसे, करने-कराने तथा अनुमोदनाके द्वारा जो हिंसादिक पापक्रियाओंका आचरण अथवा अनुष्ठान है वह मिथ्याचारित्र है, जो सम्यग्चारित्रके उस लक्षणके विपरीत है जिसका निर्देश आगे २७वे पद्यमें किया गया है। यह सब कथन व्यवहारनयकी दृष्टिसे है। निश्चयनयकी दृष्टिसे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे रहित और चारित्रमोहसे अभिभूत योगोंकी शुभप्रवृत्ति भी शुभकर्मबन्धके हेतु मिथ्याचारित्रमें परिगणित है; क्योंकि सम्यक्चारित्र कर्मादाननिमित्त-क्रियाके त्यागरूप होता है[४]।

१. काय-वाङ्-मन -कर्म योगः। (त० सू० ६-१)

२. शुभपरिणाम-निर्वृत्तो योग. शुभः, अशुभपरिणाम-निर्वृत्तश्चाऽशुम.। (सर्वार्थ० ६-३)

३. वध-चिन्तनेर्ष्याऽसूयापरोऽशुभो मनोयोगः (सर्वार्थ० ६-२)

४. संसार-कारण-निवृत्ति प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवत. कर्मादाननिमित्त-क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्। (सर्वार्थ० १-१)

बन्धहेतुओमे चक्री और मन्त्री

बन्ध-हेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति[1] कीर्तितः ।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्[2] ॥१२॥

'बन्धके सम्पूर्ण हेतुओंमें मोह चक्रवर्ती (राजा) कहा गया है और मिथ्याज्ञान इसीके मन्त्रित्वको आश्रय किये हुए है— मोह राजाका आश्रित मन्त्री है ।

व्याख्या—यहाँ मिथ्यादर्शनरूप मोहको चक्रवर्ती बतलाकर बन्धके हेतुओंमें उसकी सर्वोपरि प्रधानताका निर्देश किया गया है और वह ठीक ही है; क्योंकि दर्शनमोह दृष्टिविकारको उत्पन्न करता है और यह दृष्टिविकार ही ज्ञानको मिथ्याज्ञान और चारित्रको मिथ्याचारित्र बनाता है। मोहाश्रित होनेसे ज्ञान स्वतन्त्रतापूर्वक मत्रीपदका कोई काम करने अथवा मोह-राजाको उसकी कुप्रवृत्तियोके विरुद्ध-प्रतिकूल अच्छी भली सलाह देनेमें समर्थ नहीं होता। सदा उसके अनुकूल ही बना रहता है और इसीसे मिथ्याज्ञान नाम पाता है। मिथ्याज्ञान मोह-चक्रीका ही मंत्री है—अन्यका नही, यह बात 'तस्य' पदके साथ 'एव' शब्दके प्रयोग-द्वारा सूचित की गई है ।

मोहचक्रीके सेनापति ममकार-अहकार

ममाऽहंकार-नामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।
यदायत्तः सुदुर्भेदः मोह-व्यूहः प्रवर्तते ॥१३॥

'उस मोहके जो दो पुत्र 'ममकार' और 'अहकार' नामके हैं वे दोनों उस मोहके सेनानायक हैं, जिनके अधीन मोहव्यूह—

---

१. मु मोहश्च प्राक् प्रकीर्तितः । २. मु शिश्रियन् ।

मोहचक्रीका सैन्यसनिवेश—**बहुत ही दुर्भेद बना हुआ है**।'

व्याख्या—मोहके गढ़को यदि जीतना है तो ममकार और अहंकारको पहले जीतना परमावश्यक है। इनके कारण ही मोह शत्रु दुर्जेय बना हुआ है और वह ससारी प्राणियोको अपने चक्कर-में फँसाता, बाँधता और दु ख देता रहता है।

ममकार और अहकार दोनो भाई एक-दूसरेके पोषक हैं। इनका स्वरूप अगले पद्योमें बतलाया गया है और साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि कैसे इनके चक्रव्यूहमे फँस कर यह जीव संसार-परिभ्रमण करता रहता है।

ममकारका लक्षण

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनु-प्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाऽभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥१४॥

'सदा **अनात्मीय**—आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत—**ऐसे कर्मजनित स्वशरीरादिकमें जो आत्मीय अभिनिवेश है**—उन्हे अपने आत्म-जन्य समझने रूप जो अज्ञानभाव है—**उसका नाम 'ममकार' है; जैसे मेरा शरीर**।'

व्याख्या—जो कभी आत्मीय नही, आत्मद्रव्यसे जिनकी उत्पत्ति नही और न आत्माके साथ जिनका अविनाभाव-जैसा कोई गाढ सम्बन्ध है; प्रत्युत इसके जो कर्मनिर्मित हैं, आत्मासे भिन्न-स्वभाव रखनेवाले पुद्गल परमाणुओं-द्वारा रचे गये हैं; ऐसे परपदार्थोंको जो अपना मान लेना है उसका नाम 'ममकार' है; जैसे यह मेरा शरीर, यह मेरा घर, यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री और यह मेरा धन इत्यादि। क्योंकि ये सब वस्तुएँ वस्तुतः आत्मीय नही, आत्माधीन नहीं, अपने-अपने कारण-कलापके

अधीन हैं, अपने आत्मद्रव्यसे भिन्न हैं और स्पष्ट भिन्न होती हुई दिखाई पडती हैं। शरीर आदिके भिन्न होते समय आत्माका उन पर कोई वश नही चलता; जबकि वस्तुतः आत्मीय होने पर उन्हे आत्माधीन होना और सदा आत्माके साथ रहना चाहिए था।

यह सब कथन अगले पद्यमें प्रयुक्त हुए **'परमार्थनयेन'** पदकी अपेक्षा रखता हुआ निश्चयनयकी दृष्टिसे है। व्यवहारनयकी दृष्टिसे मेरा शरीरादि कहनेमें जरूर आता है, परन्तु जो व्यवहार निश्चयनयके ज्ञानसे बहिर्भूत है, निश्चयकी अपेक्षा न रखता हुआ कोरा व्यवहार है अथवा व्यवहारको ही निश्चय समझ लेनेके रूपमें है वह भारी भूलभरा तथा वस्तुतत्त्वके विपर्यासको लिए हुए है। प्राय ऐसा ही हो रहा है और इसीलिए निश्चयनयकी दृष्टिको स्पष्ट करनेको जरूरत होती है। इस व्यावहारिक ममतारूपी घोर अन्धकारके वश जिसके ज्ञानकी स्थिति अस्तव्यस्त हो रही है ऐसा प्राणो सच्चे सुखस्वरूप अपने हित-साधनसे दूर भागता रहता है, जैसा कि श्री अमितगति आचार्यने अपने निम्न वाक्यमें व्यक्त किया है—

माता मे मम गेहिनी मम गृह मे बान्धवा मेऽङ्गजाः
तातो मे मम सम्पदो मम सुख मे सज्जनाः मे जना ।
इत्थ घोरममत्व-तामस-वश-व्यस्ताऽस्तबोधस्थिति.
शर्माधान-विधानत स्वहिततः प्राणी सनीस्रस्यते ॥

—तत्त्वभावना २५

अहकारका लक्षण

ये कर्म-कृता भावा परमार्थ-नयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्राऽऽत्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥१५॥

'कर्मोंके द्वारा निर्मित जो पर्यायें हैं और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उनमें आत्माका जो मिथ्या आरोप है—उन्हें आत्मा समझनेरूप अज्ञानभाव है—उसका नाम 'अहंकार' है; जैसे मैं राजा हूँ।'

व्याख्या—यहाँ परमार्थनयका अर्थ निश्चयनयसे है, जिसे द्रव्यार्थिक नय भी कहा गया है. उसकी दृष्टिसे जितनी भी कर्मकृत पर्यायें हैं वे सब आत्मासे भिन्न हैं—आत्मरूप नही हैं—उन्हे आत्मरूप समझ लेना ही अहंकार है, जैसे मैं राजा, मैं रंक, मैं गोरा, मैं काला, मैं पुरुष, मैं स्त्री, मैं उच्च, मैं नीच, मैं सुरूप, मैं कुरूप, मैं पंडित, मैं मूर्ख, मैं रोगी, मैं नीरोगी, मैं सुखी, मैं दुखी, मैं मनुष्य, मैं पशु, मै निर्बल, मैं सबल, मैं बालक, मैं युवा, मैं वृद्ध इत्यादि। ये सब निश्चयनयसे आत्माके रूप नही, इन्हें दृष्टि-विकारके वश आत्मरूप मान लेना अहंकार है। यह कर्म-कृत-पर्यायको आत्मा मान लेने रूप अहंकारको एक व्यापक परिभाषा है। इसमें किसी पर्याय-विशेषको लेकर गर्व अथवा मदरूप जो अहंभाव है वह सब शामिल है। निश्चय-सापेक्ष्य व्यवहारनयकी दृष्टिसे अपनेको राजादिक कहा जा सकता है, परन्तु व्यवहार-निरपेक्ष निश्चयनयकी दृष्टिसे आत्माको राजादिक मानना अहंकार है। इसी तरह देहको आत्मा मान लेना भी अहंकार है।

ममकार और अहंकारमे मोह-व्यूहका सृष्टि-क्रम

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकार-संभवः।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु[1] जायते ॥१६॥

'मिथ्याज्ञान-युक्त मोहसे जीवके ममकार और अहंकार-

१. ज द्वेषश्च

का जन्म होता है और इन दोनोंसे (ममकार-अहकारसे) **राग तथा द्वेष उत्पन्न होता है।'**

व्याख्या—यहाँ ममकार और अहकारको राग-द्वेषका जो जनक बतलाया गया है उसका यह आशय नहीं कि दोनों मिलकर राग-द्वेष उत्पन्न करते है या एक रागको तथा दूसरा द्वेषको उत्पन्न करता है; बल्कि यह आशय है कि दोनो अलग-अलग राग-द्वेषके उत्पादक हैं—ममकारसे जिस प्रकार रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अहकारसे भी होती है।

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युर्नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥१७॥

'फिर उन (राग-द्वेष) **दोनों से कषायें**—क्रोध, मान, माया, लोभ – **और नोकषायें**—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तथा काम-वासनायें—**उत्पन्न होती हैं, जोकि रागद्वेषरूप हैं। उन कषायों तथा नोकषायोंसे योग प्रवृत्त होते हैं**—मन, वचन तथा कायकी क्रियायें बनती हैं—**और उन योगोंके प्रवर्तनसे प्राणि-वधादिरूप हिंसादिक कार्य होते हैं।'**

व्याख्या—माया, लोभ, हास्य, रति और स्त्री-पुरुषादि-वेद-रूप काम-वासनाएँ ये पाँच (दो कषायें तथा तीन नोकषायें) राग-रूप हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (ग्लानि) ये छह (दो कषायें तथा चार नोकषायें) द्वेषरूप हैं[1]। मन-वचन-कायकी क्रियारूप योगोंकी प्रवृत्ति शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारकी होती है। शुभयोगप्रवृत्तिके द्वारा अच्छे-पुण्य-कार्य और अशुभयोगप्रवृत्तिके द्वारा बुरे-पापकार्य होते

१. राग. प्रेमरतिर्माया लोभं हास्यं च पञ्चधा।
मिथ्यात्वभेदयुक् सोऽपि मोहो द्वेषः क्रुधादि षट् ॥ (अध्यात्मरहस्य २७)

हैं और इसलिए 'प्राणिवधादयः' पदमें प्रयुक्त हुआ बहु-वचनान्त आदि' शब्द जहाँ झूठ, चोरी, मैथुन-कुशील और परिग्रह जैसे पापकार्योंका वाचक है वहाँ अहिंसा-दया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-जैसे पुण्यकार्योंका भी वाचक है।

तेभ्यः[1] कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगति-दुर्गती ।
तत्र कायाः प्रजायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥१८॥

'उन प्राणिवधादिक कार्योंसे कर्म बँधते हैं—जिनके शुभ तथा अशुभ ऐसे दो भेद हैं। **कर्मोंके बन्धनसे सुगति तथा दुर्गति-की प्राप्ति होती है** —अच्छे-शुभ कर्मोंके बन्धनसे (देव तथा मनुष्य भवकी प्राप्तिरूप सुगति और बुरे-अशुभ कर्मोंके बन्धन-से (नरक तथा तिर्यचयोनिरूप) दुर्गति मिलतो है। **कर्मोंके वश उस सुगति या दुर्गतिमें जहाँ भी जीवको जाना होता है वहाँ शरीर उत्पन्न होते हैं और शरीरोंके साथ सहज ही इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं**—चाहे उनकी सख्या एक शरीरमें कमसे कम एक ही क्यो न हो।

व्याख्या—यहाँ जिन कर्मोंके बन्धनेका उल्लेख है, उनकी ज्ञानावरणादिरूप मूलप्रकृतियाँ आठ, मतिज्ञानावरणादिरूप उत्तरप्रकृतियाँ एकसौ अडतालीस और फिर मतिज्ञानावरणा-दिके भेद-प्रभेद होकर उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असख्य हैं। इन सब कर्मप्रकृतियोमे कुछ शुभरूप हैं, जिन्हें पुण्यप्रकृतियाँ कहते हैं, और

---

१. जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदि-सुगदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देही देहादो इंदियाणि जायंते ॥१२९॥
—पंचास्तिकाय

शेष अशुभरूप हैं, जिन्हें पापप्रकृतियाँ कहते हैं। इन सब कर्मोंका, कर्मोंसे होनेवाली चार प्रकारकी गतियोंका, गतियोंमें प्राप्त होनेवाले औदारिक-वैक्रियकादि पच प्रकारके शरीरोंका और शरीरोके साथ सम्बद्ध स्पर्शन-रसनादि पाँच प्रकारकी इन्द्रियो-का स्वरूपादि-विषयक विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, उसके टीका-ग्रन्थ, षट्खण्डागम, कर्मप्रकृति, पचसंग्रह और गोम्मटसारादि सिद्धान्त ग्रन्थोसे जानना चाहिये।

[1]तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्णन्मुह्यति द्वेष्टि रज्यते।
ततो बद्धो[2] भ्रमत्येव मोह-व्यूह-गतः पुमान् ॥१६॥

'उन इन्द्रियोंके विषयोंको इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण करता हुआ जीव राग करता है, द्वेष करता है तथा मोहको प्राप्त होता है और इन राग-द्वेष-मोहरूप प्रवृत्तियों-द्वारा नये बन्ध-नोंसे बँधता है। इस तरह मोहकी सेनासे घिरा तथा उसके चक्कर-में फँसा हुआ यह जीव भ्रमण करता ही रहता है।'

व्याख्या—यह उस कथनका उपसहार-पद्य है जिसकी सूचना तेरहवे पद्यमे 'मोह-व्यूहको सुदुर्भेद बतलाते हुए' की गई थी। ममकार और अहकारसे जिन राग-द्वेषको उत्पत्ति हुई थी वे अपनेसे अनेक कर्मबन्धनोको उत्पन्न करते हुए फिर यहाँ आगये हैं और यहाँसे फिर नये कर्मचक्रकी सृष्टि शुरू हो गई है। इस तरह कर्मके चक्करसे यह जीव निकलने नही पाता—उसी की भूलभुलैयाँमे फँसा हुआ बराबर उस वक्त तक ससार-परिभ्रमण करता रहता है जब तक कि उसका दृष्टिविकार

---

१ तेहिं दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेद भावो संसार-चक्कवालम्मि ॥१३०॥ (पचास्ति०)

२ मु मे बधो।

मिटकर उसे यह सूझ नही पडता कि ये मोहादिक–मिथ्यादर्शनादिक–ससार-परिभ्रमणके हेतुरूप मेरे शत्रु हैं और इनके फन्देसे छूटनेका कोई उद्यम नही करता ।

मुख्य बन्धहेतुओके विनाशार्थ प्रेरणा

तस्मादेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।
ममाऽहंकारयोश्चात्मन् ! विनाशाय कुरूद्यमम् ॥२०॥

'अत हे आत्मन् ! (यदि तू इस भव-भ्रमणसे छूटना चाहता है तो) **इस मिथ्यादर्शनरूप मोहके, भ्रमादिरूप मिथ्याज्ञानके और ममकार तथा अहंकारके, जोकि तेरे शत्रु हैं, विनाशके लिये उद्यम कर।'**

व्याख्या—यहाँ मोह, मिथ्याज्ञान, ममकार और अहंकार इन चारोंको आत्माका शत्रु बतलाया गया है, क्योंकि ये आत्माका अहित करते हैं—उसके गुणोका घात करके आत्मविकासको रोकते है। इसीसे इनके विनाशके लिए यहाँ उद्यम करनेकी प्रेरणा की गई है, और इससे यह स्पष्ट है कि इन शत्रुओंका नाश विना उद्यम प्रयत्न अथवा पुरुषार्थके अपने आप नही होगा। यथेष्ट पुरुषार्थके अभावमें इनकी परम्परा अनादिकालसे चली आती है। अत: इनका मूलोच्छेद करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थकी अत्यन्त आवश्यकता है। उस पुरुषार्थके बन आनेपर इनका विनाश अवश्यभावी है।

मुख्य बन्ध-हेतुओके विनाशका फल

बन्ध-हेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तव ।
शेषोऽपि राग[1] द्वेषादिर्बन्ध-हेतुर्विनंक्ष्यति[2] ॥२१॥

---

१ सि जु शेषो राग। २. मु विनश्यति।

'(हे आत्मन्!) **बन्धके मुख्य कारणों**—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और ममकार-अहंकाररूप मिथ्याचारित्र—**के क्रमशः नष्ट होने पर तेरे राग-द्वेषादिरूप शेष जो बन्धका हेतु—कारण-कलाप—है वह सब भी नाशको प्राप्त हो जायगा।'**

व्याख्या—पूर्वकारिकामें जिन मोहादिकको आत्माका शत्रु बतलाया गया है और जिनके विनाशार्थ खासतौरसे पुरुषार्थकी प्रेरणा कीगई है, उन्हें आचार्यमहोदयने यहाँ बन्धके कारणोंमें प्रधानकारण प्रतिपादित किया है और साथ ही आत्माको यह आश्वासन दिया है कि तुझे बन्धनबद्ध करनेवाले इन प्रमुख शत्रुओंके नष्ट होजानेपर शेष बन्धकारक जो राग-द्वेषादिरूप शत्रुसमूह है. वह भी नाशको प्राप्त होजायगा—उसके विनष्ट होनेमें फिर अधिक विलम्ब तथा पुरुषार्थकी अपेक्षा नहीं रहेगी; क्योंकि ममकारसे रागकी और अहंकारसे द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जब ममकार और अहंकार ही नष्ट होगये, तब राग और द्वेषकी परम्परा कहाँसे चलेगी? राग द्वेषके अभावमें क्रोधादि-कषायें तथा हास्यादि नोकषायें स्थिर नहीं रह सकेंगी; क्योंकि रागसे लोभ-माया नामक कषायोंकी तथा हास्य, रति, काम-भोगरूप नोकषायोंकी उत्पत्ति होती है और द्वेषसे क्रोध-मान नामक कषायोंकी तथा अरति, शोक. भय, जुगुप्सारूप नोकषायोंकी उत्पत्ति होती है। कषाय-नोकषायके अभावमें मन-वचन-कायकी क्रियारूप योगोंकी प्रवृत्ति नहीं बनती। योगोंकी प्रवृत्तिके न बननेपर कर्मोंका आस्रव नहीं बनता, जिसे बन्धका निबन्धन कहा गया है। और जब कर्मोंका आस्रव ही नहीं बनेगा, तब बन्धन किसके साथ होगा? किसीकेभी साथ वह नहीं बनसकेगा। इस तरह यह स्पष्ट है कि बन्धके उक्त मुख्य हेतुओंका विनाश होनेपर बन्धके शेष सभी हेतुओंका नाश होना अवश्यंभावी है।

इसीसे आचार्यमहोदयने उनके सह-नाशका आश्वासन दिया है और इस आश्वासनके द्वारा मुमुक्षुको उन प्रमुख शत्रुओके प्रथमत: विनाशके लिये प्रोत्साहित किया है।

यहां प्रयुक्त हुआ 'क्रमशः' शब्द अपना खास महत्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि इन मोह, मिथ्याज्ञान, ममकार और अहकारका विनाश क्रमश. होता है। ऐसा नही कि दृष्टिविकाररूप मोह तो बना रहे और मिथ्याज्ञानका अभाव होजाय अथवा मोह और मिथ्याज्ञान दोनो बने रहें किन्तु ममकार छूट जाय या ममकार भी बनारहे और अहंकार छूट जाय। पूर्व-पूर्वके विनाशपर उत्तरोत्तरका विनाश अवलम्बित है।

समस्त बन्धहेतुओके विनाशका फल

ततस्त्वं बन्ध-हेतूनां समस्तानां विनाशतः।
बन्ध-प्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ ॥२२॥

'तत्पश्चात् राग-द्वेषादिरूप बन्धके शेष कारणकलापके भी नाश हो जाने पर (हे आत्मन्!) तू सारे ही कारणोंके विनाशसे और (फलतः) बन्धनके भी विनाशसे मुक्त हुआ (फिर) संसारमें भ्रमण नहीं करेगा।'

व्याख्या—यहाँ पर पूर्व पद्यमे दिये हुए आश्वासनको और आगे बढ़ाया गया है और यह कहा गया है कि जब उपर्युक्त प्रकारसे सारे बन्ध-हेतुओंका अभाव हो जायगा, तब बन्धका भी अभाव होजायगा, क्योकि कारणके अभावमें कार्यका अस्तित्व नही बनता। जब बन्धका पूर्णतः विनाश हो जायगा, तब हे आत्मन्! तू बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जायगा और इस तरह संसार-परिभ्रमणसे अथवा ससारके सारे दुःखोसे छूट जायगा; क्योंकि बन्धका कार्यही संसार-परिभ्रमण है, जिसे सारे दुःखों-

का दाता बतलाया गया है[1]।

अब यह प्रश्न पैदा होता है कि बन्धके हेतुओंका विनाश कैसे किया जाय ?—किस उपाय अथवा कौनसे पुरुषार्थको उसकेलिये काममे लाया जाय ? इसके उत्तरमें आचार्यमहोदय कहते हैं :—

बन्ध-हेतु-विनाशार्थ मोक्ष-हेतु-परिग्रह

बन्धहेतु-विनाशस्तु मोक्षहेतु-परिग्रहात् ।
परस्पर-विरुद्धत्वाच्छीतोष्ण-स्पर्शवत्तयोः ॥२३॥

'बन्धके कारणोका विनाश तब बनता है जब कि मोक्षके कारणोंका आश्रय लिया जाता है ; क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों-के कारण उसीतरह एकदूसरेके विरुद्ध हैं जिसतरह कि शीतस्पर्श उष्णस्पर्शके विरुद्ध है—शीतको दूर करनेके लिये जिस प्रकार उष्णताके कारण और उष्णताको दूर करनेके लिये शीतके कारण मिलाये जाते हैं, उसी प्रकार बन्धके कारणोको दूर करनेके लिये मोक्षके कारणोका मिलाना आवश्यक है।'

व्याख्या—यहां संक्षेपमें उस उपाय, मार्ग अथवा पुरुषार्थकी सूचना की गई है जिससे बन्ध-हेतुओंका विनाश सधता है, और वह है मोक्ष-हेतुका परिग्रहण—मोक्ष-मार्गका सम्यक् अनुसरण। क्योंकि मोक्ष-हेतु बन्ध-हेतुका प्रबल विरोधी है अतः उसको अप-नानेसे बन्ध-हेतुका सहज ही विनाश हो जाता है।

अब उस मोक्ष-हेतुका क्या रूप है, उसे बतलाया जाता है:—

मोक्षहेतुका लक्षण सम्यग्दर्शनादि-त्रयात्मक

स्यात्सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयात्मकः ।
मुक्ति-हेतुर्जिनोपज्ञ निर्जरा-संवर-क्रियः[2] ॥२४॥

---

१. तत्त्वानुशासन ७।
२. मु क्रिया', मे क्रिया।

'सर्वज्ञ-जिनके द्वारा स्वयका अनुभूत एवं उपदिष्ट मुक्ति-हेतु (मोक्षमार्ग) **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ऐसे त्रितयात्मक हैं** – इन तीनोंको आत्मसात् किये हुए इन रूप है— **और निर्जरा तथा संवर उसकी फलव्यापारपरक क्रियायें हैं**— वह इन दोनों रूप परिणमता हुआ मोक्षफलको फलता है ।'

व्याख्या –यहाँ **'त्रितयात्मक:'** पद और **'मुक्तिहेतु:'** पदका एकवचनमें निर्देश खासतौरसे ध्यानमें लेने योग्य है और दोनों पद इस बातको सूचित करते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये अलग-अलग मोक्षके तीन हेतु अथवा मार्ग नही हैं, बल्कि तीनो मिलकर मोक्षका एक अद्वितीय मार्ग बनाते है । यही बात मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग.'** इस प्रथम सूत्रमे निर्दिष्ट हुई है । मुक्तिहेतुका **'निर्जरा-सवर-क्रिय:'** यह विशेषणपद और भी अधिक ध्यान देने योग्य है और वह इस बातको सूचित करता है कि बन्धनसे छूट कर मुक्तिको प्राप्त करना केवल पूर्वबन्धनोकी नष्टिरूप निर्जरा-से ही नही बनता, बल्कि नये बन्धनोको रोकनेरूप सवरको भी साथमे अपेक्षा रखता है । सम्यग्दर्शनादिका व्यापार निर्जरा और सवर दोनो रूपमे होता है और तभी वे मोक्षफलको प्राप्त कराने-मे समर्थ होते हैं ।

सम्यग्दर्शनका लक्षण

जीवादयो नवाप्यर्था ये यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतम् ॥२५॥

'जीवादिक जो नौ पदार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप नामके—**हैं उन्हें जिस प्रकारसे**

सर्वज्ञ-जिनने निर्दिष्ट किया है वे उसी प्रकारसे स्थित हैं—अन्यथा रूपसे नहीं—ऐसी जो श्रद्धा, रुचि अथवा प्रतीति है, उसका नाम 'सम्यग्दर्शन' है।'

व्याख्या—यहाँ 'अर्थ' शब्दके द्वारा जिन पदार्थोंका ग्रहण विवक्षित है, उन्हें अन्यत्र समयसारादि आगम-ग्रन्थोंमें 'तत्त्व' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट किया है। तत्त्व, अर्थ और पदार्थ इन तीनोंको एक ही अर्थके वाचक समझना चाहिये। इनकी मूलसंख्या प्रायः नौ रूढ[1] है। इसीसे उक्त संख्याके अनुसार ६ नाम ऊपर दिये गये हैं। तत्त्वार्थसूत्रादि कुछ मूल-ग्रन्थोंमें तत्त्वोंकी संख्या सात दी है[2]। उनमें पुण्य तथा पापको आस्रव-तत्त्वमें संग्रहीत किया है। अतः जिनभाषित तत्त्वों या पदार्थोंकी श्रद्धा-दृष्टिसे इस संख्या-भेदके कारण सम्यग्दर्शनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'सम्यग्दर्शन' पदमें प्रयुक्त हुआ 'दर्शन' शब्द यहाँ श्रद्धाका वाचक है—चक्षुदर्शनादिरूप दृष्टिका वाचक नहीं—जैसे कि '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' इस सूत्रमें प्रयुक्त हुआ 'दर्शन' शब्द श्रद्धानका वाचक है।

इन जीवादि पदार्थोंका उनके भेद-प्रभेदों-सहित जैसा कुछ स्वरूप-निर्देश जिनागमोंमें किया गया है, उस सबका वैसा ही अविरोधरूप श्रद्धान यहाँ विवक्षित है; क्योंकि '**नाऽन्यथावादिनो जिनाः**' की उक्तिके अनुसार वीतराग सर्वज्ञ-जिन अन्यथावादी नहीं होते और इसलिये उनके कथन-विरुद्ध जो श्रद्धान है वह अतत्त्व-श्रद्धान होनेसे सम्यग्दर्शनकी कोटिसे निकल जाता है। जो जिन-भाषित होता है, वह युक्ति तथा आगमसे अविरोधरूप

---

१. जीवाऽजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा॥ (पंचास्ति० १०८)

२. जीवाऽजीवाऽऽस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् (त० सू० १-४)

होता है, यही उसकी प्रमुख कसौटी है। संदिग्धावस्थामें इस कसौटी पर उसे कस लेना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानका लक्षण

प्रमाण-नय-निक्षेपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते॥२६॥

'(जिनभाषित) **जीवादि पदार्थोंमें जो प्रमाणों, नयों और निक्षेपोंके द्वारा याथात्म्यरूपसे निश्चय होता है उसको 'सम्यग्ज्ञान' माना गया है।'**

व्याख्या—प्रमाणोंके प्रत्यक्ष-परोक्षादिके विकल्पसे अनेक भेद हैं। नयोंके भी निश्चय-व्यवहार, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और नैगम-संग्रहादिके विकल्पसे अनेक भेद हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे निक्षेप चार प्रकारके हैं। ये सब प्रमाणादिक पदार्थों की यथार्थताके निश्चायक हैं। इनके द्वारा पदार्थों के स्वरूपादि-निर्धारण अथवा निश्चयको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इन प्रमाणों, नयों तथा निक्षेपोके भेद-प्रभेदों और उनके स्वरूपादिकी जानकारीके लिये तत्त्वार्थसूत्रके टीकादि-ग्रन्थों तथा अन्य तत्त्व-ज्ञान-विषयक जैनग्रन्थोको देखना चाहिये।

सम्यक्चारित्रका लक्षण

चेतसा वचसा तन्वा कृताऽनुमत-कारितैः।
पाप-क्रियाणां यस्त्यागः सच्चारित्रमुषन्ति तत्॥२७॥

'मनसे, वचनसे, कायसे कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा जो पापरूप क्रियाओंका त्याग है उसको 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं।'

व्याख्या—पापरूप क्रियाओंके करने का मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग; पापरूप क्रियाओंके करानेका मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग; पापरूप क्रियाओंके दूसरों-

द्वारा किये-कराये जाने पर उनके अनुमोदनका मनसे त्याग, वचनसे त्याग तथा कायसे त्याग; इस तरह पापक्रियाओंका जो नव प्रकार-से त्याग है उसका नाम सम्यक्चारित्र है।

यहाँ सम्यक्चारित्रका यह लक्षण पापक्रियाओंके त्यागरूप होनेसे निषेधपरक (निवृत्त्यात्मक) है और निषेधका विधिके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ त्याग होता है वहाँ कुछ ग्रहण भी होता है और वह ग्रहण त्याज्यके प्रतिपक्षीका होता है। पाप-क्रियाओंकी प्रतिपक्षी-क्रियायें धर्मक्रियायें हैं, उनका ग्रहण अथवा अनुष्ठान पापक्रियाओंके त्यागके साथ अवश्यंभावी है और इसलिये उनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे सच्चारित्रका विधि-परक (प्रवृत्त्यात्मक) लक्षण भी यहाँ फलित होता है और वह यह कि—'मनसे, वचनसे तथा कायसे कृत-कारित-अनुमोदनाके द्वारा जो (पापविनाशक) धर्मक्रियाओंका अनुष्ठान है, उसका नाम भी सम्यक्चारित्र है।

मोक्षहेतुके नयदृष्टिसे भेद और उनकी स्थिति

'मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः[2]।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम्[1] ॥२८॥

'पूर्वोक्त मुक्ति-हेतु—मोक्षमार्ग—निश्चयनय और व्यवहार-नयके भेदसे पुनः दो प्रकार है, जिनमें पहला निश्चय मोक्षमार्ग-साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार-मोक्षमार्ग उस निश्चयमोक्षमार्ग-का साधन है।'

व्याख्या—यहाँ मोक्षमार्गके दो नयदृष्टियोंसे दो भेद करके एक-को साध्य और दूसरेको साधन प्रतिपादित किया गया है और इससे

---

१. निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
—तत्त्वार्थसारे, अमृतचन्द्रः

२. मु निश्चयव्यवहारतः।

यह स्पष्ट है कि व्यवहार-मोक्षमार्ग साधन होनेसे निश्चय-मोक्षमार्गकी सिद्धिके पूर्व क्षण तक अनुपादेय नहीं है, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि कोठे पर चढ़नेकी सीढ़ी कोठेके ऊपर पहुँचनेसे पहले तक अनुपादेय नहीं होती—कोठेकी छतके अत्यन्त निकट पहुँच जाने पर और वहाँ पैर जम जाने पर भले ही वह अनुपादेय अथवा त्याज्य हो जाय।

निश्चय-व्यवहार-नयोंका स्वरूप

[1]अभिन्न-कर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नयः।
व्यवहार-नयो भिन्न-कर्तृ-कर्मादि-गोचरः ॥२९॥

'निश्चयनय अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है—उसमें कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणका व्यक्तित्व एक दूसरेसे भिन्न नहीं होता। व्यवहारनय भिन्न कर्तृ-कर्मादि विषयक है—उसमें कर्ता, कर्म, करणादि का व्यक्तित्व एक दूसरेसे भिन्न होता है—यही इन दोनों नयोंमें मुख्य भेद है।'

व्याख्या—दोनों नयोंके इस स्वरूप-कथनसे निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गके अगभूत जो सम्यग्दर्शनादिक हैं उनके कर्ता-कर्मादिका विषय स्पष्ट सूचित होता है—एकमें वह मुमुक्षुके अपने आत्मासे भिन्न नहीं होता और दूसरेमें उससे भिन्न होता है।

आगे तीन पद्योंमें व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके मोक्षमार्गोंका अलग-अलग स्वरूप दिया जाता है:—

---

१ अभिन्न-कर्तृकर्मादि-गोचरो निश्चयोऽथवा।
व्यवहारः पुनर्देव! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः॥
—ध्यानस्तव ७१

व्यवहार-मोक्ष-मार्ग

'धर्मादि-श्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्'[1] ।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरयम् ॥३०॥

'धर्म आदिका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल इन छह द्रव्योंका तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ पदार्थों या तत्त्वोंका—**जो श्रद्धान वह 'सम्यक्त्व'** (सम्यग्दर्शन), **उन द्रव्यों तथा तत्त्वोंका जो अधिगम**—अधिकृतरूपसे अथवा सविशेषरूपसे जानना—**वह 'सम्यग्ज्ञान', और तपमें**—इच्छाके निरोधमें—**जो चर्या-प्रवृत्ति वह 'सम्यक्चारित्र' है** । इस प्रकार यह व्यवहारनयकी दृष्टिसे मुक्तिका हेतु है—व्यवहार-रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है ।'

व्याख्या—प्रकरण और ग्रन्थ-सन्दर्भकी दृष्टिसे इस पद्यमें प्रयुक्त हुआ 'सम्यक्त्वं' पद सम्यग्दर्शनका, 'ज्ञानं' पद सम्यग्ज्ञानका और 'चरणं' पद सम्यक्चारित्रका वाचक है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका स्वरूप इससे पहले प्रस्तुत ग्रन्थ (२५, २६, २७) में दिया जा चुका है । यहाँ उन्हींका स्वरूप कुछ भिन्नताको लिए हुए जान पड़ता है । वहाँ जीवादि नव पदार्थोंके यथा-जिनभाषितरूपसे श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है और यहाँ मात्र धर्मादिकके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कह दिया है; वहाँ उन नव पदार्थोंके प्रमाण-नय-निक्षेपोंद्वारा सम्यक्निश्चयको सम्यग्ज्ञान बतलाया गया है तो यहाँ धर्मादिकके मात्र अधिगमको सम्यग्ज्ञान कह दिया है; और वहाँ मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदनासे पापकी क्रियाओंके त्यागको सम्यक्चारित्र

---

१. धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वादि ।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥ (पंचा० १६०)

२. तेसिमधिगमो णाणं । (पंचा० १०७, समय० १५५)

निर्दिष्ट किया है तो यहाँ केवल तपको चेष्टाको ही चारित्र बतला दिया है। इस भेदका क्या कारण है ? यह यहाँ विचारणीय है। जहाँ तक मैंने विचार किया है, पूर्व तीन पद्यों (२५, २६,२७) का कथन सम्यग्दर्शनादिके लक्षण-स्वरूप-निर्देशकी दृष्टिको लिए हुए है और यहाँ पर उस दृष्टिको छोड़कर उनके सामान्य-स्वरूपकी मात्र सूचना की गई है। पापक्रियाओंका जो त्याग है वह एक प्रकारसे इच्छाके निरोधरूप तप ही है। फिर भी 'जीवादिश्रद्धानं'के स्थान पर 'धर्मादिश्रद्धानं' का जो पद है वह कुछ खटकता जरूर है; परन्तु यह खटक उस वक्त मिट जाती है जब हम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी पचास्तिकायगत उस गाथाको देखते हैं जो पिछले फुटनोटमें उद्धृत है। वस्तुतः दोनोमें कोई अन्तर नहीं है, अजीवके कथनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंका कथन आजाता है। इसके सिवाय, स्वयं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने सम्यक्त्वादिका स्वरूप 'जीवादी सद्दहणं' रूपसे भी दिया है, जैसा कि प्रवचनसार-की निम्न गाथासे प्रकट है.—

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं[१] तेसिमधिगमो णाणं।
रायादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१५५॥

निश्चय-मोक्ष-मार्ग

[२]निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभियः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुंचति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥

'इन तीनों व्यवहारसम्यग्दर्शनादिसे भले प्रकार युक्त जो भिक्षु-साधु जब न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता है तब

१. 'जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं', वाक्य दंसणपाहुडमें भी दिया है।
२. णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति(पंचा० १६१)

वह निश्चयनयसे मुक्ति हेतुरूप होता है—स्वयं मोक्षमार्गरूप परिणमता है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयसे उस साधुको मोक्षमार्गरूप बतलाया है जो इन सम्यग्दर्शनादिसे युक्त हुआ ग्रहण और त्यागकी प्रवृत्तिको छोड़ देता है। जबतक आत्मासे भिन्न परपदार्थोंमें ग्रहण-त्यागकी बुद्धि तथा प्रवृत्ति बनी रहती है तबतक आत्मामें सम्यक्-स्थितिरूप मोक्षकी साधना नहीं बनती। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय)रूप परिणत हुआ अपना आत्मा ही मोक्षमार्ग है[1]।

यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्याऽऽत्मा।
दृगवगमचरणरूपः स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति हि जिनोक्तिः[2] ॥३२॥

'जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा मध्यस्थ भावको प्राप्त हुआ आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामें देखता और जानता है वह निश्चयनयसे (स्वयं) मुक्तिका हेतु है, ऐसी सर्वज्ञ-जिनकी उक्ति-वाणी है।'

व्याख्या—वास्तवमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत वह आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे मोक्षमार्ग है जो रागद्वेषसे रहित हुआ अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें देखता और जानता है। क्योंकि निश्चयनय अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक होता है (२९)—निश्चयनयमें जानने और देखनेकी

---

१. सम्मद्दंसण णाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा, णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥ (द्रव्यसं० ३९)

२. मु रिति जिनोक्तिः। सि मु हे जिनोक्ति

क्रियाका कर्ता, कर्म और अधिकरण आत्मासे भिन्न कोई दूसरा नहीं होता।

द्विविध मोक्षमार्ग ध्यानलभ्य होनेसे ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा

[1]स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु[2] ध्यानं सुधियः सदाऽप्यपास्याऽऽलस्यम् ॥३३॥

'यतः (चूकि) निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारका निर्दोष मुक्तिहेतु (मोक्षमार्ग) ध्यानकी साधनामें प्राप्त होता है अतः हे सुधीजनों! सदा ही आलस्यका त्याग कर ध्यानका अभ्यास करो।'

व्याख्या—यहाँ सुधीजनोको निरालस्य होकर सदा ध्यानको प्रेरणा करते हुए उसकी उपादेयता तथा उपयोगिताको जिस हेतु-द्वारा प्रदर्शित किया है वह खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है और वह यह है कि ध्यान-द्वारा दोनो प्रकारका मोक्षमार्ग सधता है। जब मुमुक्षु ध्यानमे अपनेसे भिन्न दूसरे पदार्थोंका अवलम्बन लेकर उन्हें ही अपने श्रद्धानादिका विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गी होता है। और जब केवल अपने आत्माका ही अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धानादिका विषय बनाता है तब वह निश्चय-मोक्षमार्गी होता है। इस तरह ध्यानका करना बहुत ही आवश्यक तथा उपयोगी ठहरता है।

---

१. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ (द्रव्यसं० ४७)

२. मु मे म्यसंतु।

ध्यानके भेद और उनकी उपादेयता

आर्त्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा ।

धर्म्यं[1] शुक्लं च सद्ध्यान[2]मुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥३४॥

'आर्त्तध्यान दुर्ध्यान है, रौद्रध्यान भी दुर्ध्यान है और यह प्रत्येक दुर्ध्यान मुमुक्षुओंके द्वारा सदा त्यागने योग्य है। धर्म्यध्यान सद्ध्यान है, शुक्लध्यान भी सद्ध्यान है और यह प्रत्येक सद्ध्यान मुमुक्षुओंके द्वारा सदा ग्रहण किये जानेके योग्य है।'

व्याख्या—यहाँ आगमवर्णित ध्यानके मूल चार भेदोंका नामोल्लेख करते हुए उनमे पहले आर्त और रौद्र दो ध्यानोंको दुर्ध्यान बतलाया है, जिन्हे असत्, अप्रशस्त तथा कलुष-ध्यान भी कहते हैं। शेष धर्म्य और शुक्ल दो ध्यानोको सद्ध्यान बतलाया है, जिन्हें प्रशस्त तथा सातिशय-ध्यान भी कहते हैं। पहले दोनों दुर्ध्यान पापबन्धके और संसार-परिभ्रमणके कारण होनेसे हेय-कोटिमें स्थित हैं और इसलिए मुमुक्षुओंके द्वारा सदा त्याज्य हैं, जबकि धर्म्य और शुक्ल दोनो ध्यान संवर, निर्जरा तथा मोक्षके कारण होनेसे उपादेय-कोटिमें स्थित हैं और इसलिए मुमुक्षुओं-द्वारा सदा ग्राह्य हैं।

'ऋते भवमार्त्तं' इस निरुक्तिके अनुसार ऋत नाम दुःख, अर्दन (पीड़न) अथवा अर्तिका है और उसमें जो उत्पन्न होता है उसे 'आर्त्तध्यान' कहते हैं विवक्षित दुःख चार प्रकारका होनेसे आर्तध्यानके भी चार भेद कहे गए हैं—१ इष्ट-वियोगज, २ अनिष्ट-सयोगज, ३ असाता-वेदनाजन्य (रोगज), ४ निदान। इष्ट अथवा मनोज्ञ वस्तुका वियोग होने पर उसके संयोगकी जो बार-बार चिन्ता है, वह पहला आर्त-

१. मु मे धर्मं।

२. सि जु सुध्यानं।

ध्यान है; अनिष्ट–अमनोज्ञ पदार्थका संयोग होने पर उसके वियोगकी जो बार-बार चिन्ता है वह दूसरा आर्तध्यान है। रोगजनित वेदनाको दूर करनेके लिए जो स्मृतिका सतत प्रवर्तन है वह तीसरा आर्तध्यान है और भोगोंकी आकांक्षासे आतुर व्यक्तिके अनागत भोगोकी प्राप्तिके लिए जो मनः प्रणिधान है वह चौथा आर्तध्यान है[1]। यह ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसयतोके होता है।

रुद्र नाम क्रूर-आशय का, उसका जो कर्म अथवा उसमें जो उत्पन्न उसे रौद्र कहते हैं[2]। वह हिंसा, असत्य, चोरी तथा विषय-सरक्षणके निमित्तसे होता है। इन निमित्तोंके कारण उसके चार भेद होते हैं—१ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ चौर्यानन्द और ४ विषय-सरक्षणानन्द, जिसे परिग्रहानन्द भी कहते हैं।

ये चारो रौद्रध्यान अपने हिंसादिक कृत्योंके द्वारा दूसरोंको रुलाकर–कष्ट पहुँचाकर आनन्द मनानेके रूपमें महाक्रूरताको लिए हुए होते हैं। ये अविरत तथा देशविरत तक ही होते हैं।

शुक्लध्यानके ध्याता

वज्रसंहननोपेताः पूर्व-श्रुत-समन्विताः ।
दध्युः शुक्लमिहाऽतीताः श्रेण्योरारोहणक्षमाः ॥३५॥

---

१. ऋते भवमार्त्तं स्याद् ध्यानमाद्यं चतुर्विधम् ।
इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानाऽसातहेतुकम् ॥३१॥
विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षणम् ।
अमनोज्ञार्थसंयोगे तद्वियोगानुचिन्तनम् ॥३२॥
निदानं भोगकांक्षोत्थं संक्लिष्टस्याऽन्यभोगतः ।
स्मृत्यन्वाहरणं चैव वेदनार्तस्य तत्क्षये ॥३३॥ (आर्ष, पर्व २१)

२. रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम् (सर्वार्थसिद्धि ९-२८)

'वज्रसंहननके धारक, पूर्वनामक श्रुतज्ञानसे संयुक्त और दोनों उपशम तथा क्षपक-श्रेणियोंके आरोहणमें समर्थ, ऐसे अतीत-महापुरुषोंने इस भूमंडल पर शुक्लध्यानको ध्याया है।'

व्याख्या—भूतकालमें जिस योग्यतावाले महापुरुषोंने शुक्लध्यानको धारण किया उसका उल्लेख करते हुए यहाँ प्रकारान्तरसे उस ध्यान-सामग्रीको सूचना की गई है, जिसके बल पर शुक्लध्यान लगाया जा सकता है और वह है वज्रसंहनन-की प्राप्ति, पूर्वागमवर्णित श्रुतज्ञानकी उपलब्धि और उपशम तथा क्षपक-श्रेणियोंमें चढ़नेकी क्षमता।

धर्म्यध्यानके कथनकी सहेतुक प्रतिज्ञा

ताहक्सामग्र्यभावे तु ध्यातुं शुक्लमिहाक्षमान्[1]।
ऐदंयुगीनानुद्दिश्य धर्म्यध्यानं प्रचक्ष्महे ॥३६॥

'इस क्षेत्रमें उस प्रकारकी वज्रसंहननादि-सामग्रीका अभाव होनेके कारण जो शुक्लध्यानको ध्यानेमें असमर्थ हैं उन इस युगके साधुओंको लक्ष्यमें लेकर मैं धर्म्यध्यानका कथन करूंगा।'

व्याख्या—यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि शुक्लध्यानके लिये वज्रसंहननादिरूप जिस सामग्रीकी आवश्यकता पिछले पद्यमें व्यक्त की गई है उसका आजकल इस क्षेत्रमे अभाव है, जिसके कारण शुक्लध्यान यहाँ नहीं बन सकता। इसीसे वर्तमान युगके ध्यानयोगियोंको लक्ष्य करके यहाँ धर्म्यध्यानके कथन-की प्रतिज्ञा की गई है।

अष्टांगयोग और उसका संक्षिप्त-रूप

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥३७॥

---

१. आ क्षमात्।

'जो योगी ध्यान करनेकी इच्छा रखता है उसे ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल, जिसके, जहाँ, जब और जैसे यह सब इस धर्म्यध्यानके प्रकरणमें जानना चाहिए।'

व्याख्या—यहाँ योगीको योगके जिन आठ अगोको जाननेकी प्रेरणा की गई है, उनमे '*यस्य*' शब्द ध्यानके स्वामीका, '*यत्र*' शब्द ध्यानके योग्य क्षेत्रका '*यदा*' शब्द ध्यानके योग्य कालका और '*यथा*' शब्द ध्यानके योग्य अवस्था-मुद्रादिका वाचक है। ध्यानादिका स्वरूप ग्रन्थकारने स्वयं आगे दिया है।

गुप्तेन्द्रिय-मना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरा-संवरौ फलम् ॥३८॥

'इन्द्रियों तथा मनोयोगका निग्रह करनेवाला—उन्हें अपने अधीन रखनेवाला—'ध्याता' कहलाता है; यथावस्थित वस्तु 'ध्येय' कही जाती है; एकाग्र-चिन्तनका नाम 'ध्यान' है और निर्जरा तथा संवर दोनों (धर्म्यध्यानके) 'फल' हैं।'

व्याख्या—यहाँ योगके ध्यानादिरूप प्रथम चार अंगोका सक्षिप्त स्वरूप दिया गया है। इनके विशेषरूपका वर्णन ग्रन्थकारने स्वय आगे पद्य न० ४१ से किया है। अत: उसको यहाँ देनेकी ज़रूरत नही।

'देश.कालश्च सोऽन्वेष्य:[2] सा चाऽवस्थाऽनुगम्यताम्
यदा यत्र यथा[3] ध्यानमपविघ्नं प्रसिद्धयति[4] ॥३९॥

(धर्म्यध्यानके स्वामी-द्वारा ध्यानके लिए) देश (क्षेत्र) और काल (समय) वह अन्वेषणीय हैं और अवस्था वह अनुसर-

---

१. यदा यत्र यथावस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात्।
स कालः स च देशः स्याद् ध्यानावस्था च सा मता ॥(आर्ष २१-८३)

२. मु मे ऽन्वेष्य। ३. ज यथा यत्र यदा। ४. सि जु प्रसिध्यते।

चीय है जहां, जब और जैसे ध्यान निर्विघ्न सिद्ध होता है।'

व्याख्या—यहाँ योगके उत्तरवर्ती तीन अंगोंके संक्षिप्त स्वरूपके लिए केवल इतना ही निर्देश कर दिया गया है कि जब, जहाँ और जिस अवस्थासे ध्यानकी निर्विघ्न सिद्धि हो, वही काल, वही क्षेत्र और वही अवस्था योगके लिये ग्राह्य है, और इससे यह साफ फलित होता है कि योग-साधनाके लिए सामान्यतः किसी देश, काल तथा अवस्थाके विशेषका कोई नियम नहीं है। इतना हो नियम है कि उनमेसे कोई ध्यानमें बाधक न होना चाहिये। कौन देश, कालादिक ध्यानमें बाधक होता है और कौन नहीं, यह सब विशेष परिस्थितियोंके आधीन है और इनका कुछ वर्णन विशेष कथनके अवसर पर परिकर्मादिके रूपमें किया गया है।

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योग-साधनम्।
विवरीतुमदः किंचिदुच्यमानं निशाम्यताम्[१] ॥४०॥

"इस प्रकार संक्षेपसे अष्ट अंगरूप योग-साधन ग्रहण किये जानेके योग्य है। इसका विवरण करनेके लिये जो कुछ आगे कहा जा रहा है उसे (हे साधको!) सुनो।'

व्याख्या—यहाँ योग-साधनको आठ अगरूप बतलाया है और 'इति संक्षेपतः' शब्दोंके द्वारा उन आठ अगोंके संक्षिप्त कथनकी समाप्तिको सूचित किया है। परन्तु ३८ वें पद्यमें ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल इन चार अंगोंका संक्षिप्त स्वरूप दिया है और ३९ वें पद्यमें देश-काल तथा अवस्था-विषयक तीन अंगोंके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है। इस तरह सात अंगोंका संक्षिप्त कथन तो समाप्त हुआ कहा जा सकता है;

१. मु मे निशाम्यताम्

आठवां अंग, जो ३७ वें पद्यमें प्रयुक्त हुए 'यस्य' पदका वाच्य है उसका कोई संक्षिप्त वर्णन इससे पहले नहीं आया। इसलिए उसके भी संक्षिप्त कथनकी बात साथमें कुछ खटकती-सी जान पड़ती है। परन्तु विचार करने पर ऐसा मालूम होता है कि चूँकि यहाँ सामान्यरूपसे आठ अंगोंके स्वरूपकी सूचना की गई है और 'यस्य' पद मे सामान्यतः ध्यानके स्वामीकी सूचना हो जाती है। अतः दूसरी कोई संक्षिप्त सूचना बनती नहीं। अगले पद्योंमें ध्याताका जो विशेष वर्णन है उसमें (पद्य ४६ में) गुणस्थानक्रमसे ध्यानके स्वामियोंका निर्देश करते हुए उस आठवें अंगकी ध्यान-स्वामीके रूपमें जो सूचना है वह विशेष-सूचना है। अतः 'यस्य' पदके द्वारा ही संक्षिप्त सूचना की गई है, ऐसा समझना चाहिये। ध्याता और ध्यान-स्वामी इन दोनोका विषय एक दूसरेके साथ मिला-जुला है। ध्याता ध्यान-के कर्त्ता अथवा अनुष्ठाताको कहते हैं और ध्यान-स्वामी ध्याता होनेके अधिकारीका नाम है, जो गुणस्थानकी दृष्टिको लिए हुए है। इसलिये दोनोंमें थोड़ा अन्तर है और इसी अन्तरकी दृष्टिसे योगके अंगोंमे ध्यातासे ध्यान-स्वामीका पृथक् ग्रहण किया गया है।

ध्याताका विशेष लक्षण

तत्राऽऽसन्नीभवन्मुक्तिः[1] किंचिदासाद्यकारणम्।
विरक्तः काम-भोगेभ्यस्त्यक्त-सर्वपरिग्रहः ॥४१॥
अभ्येत्य सम्यगाचार्यं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः।
तपः-संयम-सम्पन्नः प्रमादरहिताऽऽशयः ॥४२॥
सम्यग्निर्णीत-जीवादि-ध्येयवस्तु-व्यवस्थितिः।
आर्त्त-रौद्र-परित्यागाल्लब्ध-चित्त-प्रसत्तिकः ॥४३॥

१. मु मे भवेन्मुक्तिः।

मुक्त-लोकद्वयाऽपेक्षः [1]सोढाऽशेष-परीषहः ।
अनुष्ठित-क्रियायोगो ध्यान-योगे-कृतोद्यमः ॥४४॥
महासत्त्वः परित्यक्त-दुर्लेश्याऽशुभभावनः ।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्म्य[2]-ध्यानस्य सम्मतः ॥४५॥

'उच्यमान-विवरणमें धर्म्य ध्यानका ध्याता इस प्रकारके लक्षणोंवाला माना गया है—जिसकी मुक्ति निकट आरही हो (जो आसन्नभव्य हो), जो कोई भी कारण पाकर कामसेवा तथा अन्य इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त होगया हो, जिसने समस्त परिग्रहका त्याग किया हो, जिसने आचार्यके पास जाकर भले-प्रकार जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की हो—जो जैनधर्ममें दीक्षित होकर मुनि बना हो—जो तप और संयमसे सम्पन्न हो, जिसका आशय प्रमाद-रहित हो, जिसने जीवादि ध्येय-वस्तुको व्यवस्थितिको भलेप्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त्त और रौद्र-ध्यानोंके परित्यागसे जिसने चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त की हो, जो (अपने ध्यान-विषयमें) इस लोक और परलोक दोनोंकी अपेक्षासे रहित हो, जिसने सभी परीषहोंको सहन किया हो, जो क्रियायोगका अनुष्ठान किये हुए हो—सिद्धभक्ति आदि क्रियाओंके अनुष्ठानमे तत्पर हो—, ध्यान-योगमें जिसने उद्यम किया हो—ध्यान लगानेका कुछ अभ्यास किया हो—, जो महासामर्थ्यवान् हो और जिसने अशुभ लेश्याओं तथा बुरी भावनाओंका परित्याग किया हो।'

व्याख्या—यहाँ अन्तमें प्रयुक्त 'सम्मतः' शब्द अपनी खास विशेषता रखता है और वह इस बातका सूचक है कि यह सब लक्षण धर्म्यध्यानके सम्मान्य ध्याताका है, जिसका आशय प्रशस्त अथवा उत्तम ध्याताका लिया जाना चाहिए और इसलिए मध्यम तथा

१. मु मे योढा । २. मु मे धर्म ।

जघन्य कोटिमें स्थित ध्याता भी इन सब गुणोंसे विशिष्ट होंगे—विना इन सब गुणोंकी पूर्तिके कोई ध्याता हो ही नहीं सकेगा—ऐसा न समझ लेना चाहिए। ध्याताके इस लक्षणमें जिन विशेषणोंका प्रयोग हुआ है उनमें अधिकाश विशेषण ऐसे हैं जो इस लक्षणको प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थानसे पूर्ववर्ती दो गुण-स्थानवालोंके साथ संगत नही बैठते; जैसे कामभोगोंसे विरक्त, सब परिग्रहोंका त्यागी, आचार्यसे जैनेश्वरी-दीक्षाको प्राप्त और सब परीषहोंको सहनेवाला। कुछ विशेषण ऐसे भी हैं जो प्रायः अप्रमत्तसंयत नामक सातवे गुणस्थानसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसे प्रमादरहित आशयका होना और आर्त-रौद्रके परित्यागसे चित्त-को स्वाभाविक प्रसन्नताका उत्पन्न होना। ऐसी स्थितिमें यह पूरा लक्षण अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती मुनिके साथ घटित होता है, जिसको अगले एक पद्य (४६) मे मुख्य धर्म्यध्यानका अधिकारी बतलाया है। और इसलिए प्रस्तुत लक्षण उत्तम ध्याताका है, यह उसके स्वरूप परसे स्पष्ट जाना जाता है। जघन्य ध्याताका कोई लक्षण दिया नहीं। ध्याताका सामान्य लक्षण '**गुप्तेन्द्रियमना ध्याता**' (३८) दिया है, उसीको जघन्य ध्याताके रूपमें ग्रहण किया जा सकता है; क्योंकि कम-से-कम ध्यान-कालमें इन्द्रिय तथा मनका निग्रह किये विना कोई ध्याता बनता ही नहीं। उत्तम और जघन्यके मध्यमे स्थित जो मध्यम ध्याता है वह अनेकानेक भेदरूप है और इसलिए उसका कोई एक लक्षण घटित नहीं होता। उत्तम ध्याताके गुणोंमें कमी होनेसे उसके अनेक भेद स्वतः हो जाते हैं।

धर्म्यध्यानके स्वामी

अप्रमत्तः प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसंयतः ।
धर्म्यध्यानस्य[1] चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ॥४६॥

१. मु मे धर्म।

'(सप्तमगुणस्थानवर्ती) अप्रमत्त, (षष्ठगुणस्थानवर्ती) प्रमत्त, (पंचमगुणस्थानवर्ती) देशसंयमी और (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) सम्यग्दृष्टि ऐसे चार गुणस्थानवर्ती जीव तत्त्वार्थमें (राजवार्तिकमें) धर्म्यध्यानके स्वामी-अधिकारी स्मरण किये गये अथवा जैनागमके अनुसार माने गये हैं।'

व्याख्या—यहाँ चौथेसे सातवें गुणस्थान तकके जीवोंको धर्म्यध्यानका अधिकारी प्रतिपादित किया गया है—चाहे वे किसी भी जाति, कुल, देश, वर्ग अथवा क्षेत्रके क्यों न हो—और यह प्रतिपादन जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे है, जिसका उल्लेख तत्त्वार्थराजवार्तिक, आर्ष (महापुराण) आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। यहाँ 'तत्त्वार्थे' पदके द्वारा तत्वार्थराजवार्तिकका ग्रहण है, जिसमें एकमात्र अप्रमत्तगुणस्थानवर्तीको ही धर्म्यध्यानका अधिकारी माननेवालोंकी मान्यताका निषेध करते हुए पूर्ववर्ती चार गुणस्थानवालोंको भी उसका अधिकारी बतलाया गया है; क्योंकि धर्म्यध्यान सम्यग्दर्शनजन्य है[1] और सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति चौथे गुणस्थानमें हो जाती है, तब अगले पाँचवें, छठे गुणस्थानोंमें धर्म्यध्यानकी उत्पत्ति कैसे नहीं बन सकेगी! उक्त मान्यता तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-सम्मत श्वेताम्बरीय सूत्रपाठकी है[2]। हो सकता है कि वह मुख्य धर्म्यध्यानकी दृष्टिको लिए हुए हो। क्योंकि मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्तोंके ही बनता है, अन्योंके वह औपचारिक

---

१. धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेन्न पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात्···असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयत-प्रमत्तसंयतानामपि धर्म्यध्यानमिष्यते सम्यक्त्वप्रभवत्वात्। यदि धर्म्यमप्रमत्तस्यैवेत्युच्यते तर्हि तेषां निवृत्तिः प्रसज्येत्। (९-१३)

२. आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य (तत्त्वार्थाधिगमसूत्र ३७)। दिगम्बर सूत्रपाठमें इस सूत्रका नम्बर ३६ है और उसमें 'अप्रमत्तसंयतस्य' यह अन्तका पद नहीं है।

रूपसे होता है; जैसाकि ग्रन्थके अगले पद्यमें ही, ध्यानके मुख्य और उपचार ऐसे दो भेद करते हुए, प्रतिपादन किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बरीय सूत्रपाठमें धर्म्यध्यानके स्वामियों-का निर्देशक कोई सूत्र नहीं है; जब कि अन्य आर्तध्यानादिकके स्वामि-निर्देशक स्पष्ट सूत्र पाये जाते हैं, यह बात चिन्तनीय है। हाँ, 'आज्ञाऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम्' इस ३६ वें सूत्रकी सर्वार्थसिद्धिटीकामें 'तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानां भवति' इस वाक्यके द्वारा चतुर्थसे सप्तमगुणस्थानवर्ती तक जीवोंको इस धर्म्यध्यानका स्वामी बतलाया है। इससे एक बात बड़ी अच्छी फलित होती है और वह यह कि जिन विद्वानोंका ऐसा खयाल है कि दिगम्बर-सूत्रपाठ सर्वार्थसिद्धिकार-द्वारा संशोधित-स्वीकृत पाठ है वह ठीक नहीं है। ऐसा होता तो वे (श्रीपूज्यपाद) सहज ही सूत्रमें इस ध्यानके स्वामियोंका उल्लेख कर सकते थे; परन्तु ऐसा न करके टीकामें जो उल्लेख किया गया है वह इस बातका स्पष्ट सूचक है कि उन्होंने मूल सूत्रको ज्योंका त्यों रखा है।

धर्म्यध्यानके दो भेद और उनके स्वामी

मुख्योपचार-भेदेन [1]धर्म्यध्यानमिह द्विधा।
अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वौपचारिकम् ॥४७॥

'ध्यान-स्वामीके उक्त निर्देशमें धर्म्यध्यान मुख्य और उपचारके भेदसे दो प्रकारका है। अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीवोंमें जो ध्यान होता है, वह 'मुख्य' धर्म्यध्यान है और शेष छठे, पाँचवें और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोंमें जो ध्यान बनता है, वह सब 'औप-चारिक' (गौण) धर्म्यध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके 'उपचार' और 'औपचारिक' विशेषण गौण तथा अप्रधान अर्थके वाचक हैं—मिथ्या अर्थके

१. मु मे धर्म।

नहीं—उसी प्रकार जिस प्रकार कि विनयके भेदोंमें उपचार विनयके साथ प्रयुक्त हुआ 'उपचार' विशेषण। उपचार-विनयमें पूज्य आचार्यादिको देखकर उठ खड़े होना, उनके पीछे चलना, हाथ जोड़ना, वन्दना और गुण-कीर्तनादि करना शामिल है, जो कि फलशून्य कोई मिथ्याक्रिया-कलाप नहीं है। इसी प्रकार उपचारधर्म्यध्यान भी फलशून्य कोई मिथ्याक्रियाकलापरूप नही है। वह भी संवर-निर्जरारूप फलको लिये हुए है। यह दूसरी बात है कि उस फलकी मुख्यतया प्राप्ति जिस प्रकार अप्रमत्तोंको होती है उस प्रकार प्रमत्तादि पूर्ववर्ती तीन गुण-स्थानवालोंको नही होती।

यहाँ 'अप्रमत्तेषु' पदका आशय केवल अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानवर्तियोंका ही नही है; किन्तु उसमें अगले तीन गुणस्थान-वर्तियोका भी समावेश है, जो कि सब अप्रमत्त (प्रमादरहित) ही होते हैं और उपशमक-क्षपक श्रेणियोंके अधःवर्ती अथवा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे सम्बन्ध रखते हैं; जैसा कि इसी ग्रन्थमें आगे 'प्रबुद्ध-धीरधःश्र-प्योधर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः' (५०) और 'धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम्' (८३) इन दोनों वाक्योंसे प्रकट है।

सामग्रीके भेदसे ध्याता और ध्यानके भेद

द्रव्य-क्षेत्रादि-सामग्री ध्यानोत्पत्तौ यतस्त्रिधा ॥
[1]ध्यातारस्त्रिविधास्तस्मात्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा ॥४८

'ध्यानकी उत्पत्तिमें कारणीभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप सामग्री चूँकि तीन प्रकारकी है—उत्तम, मध्यम और

---

१. ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा।
लेश्या-विशुद्धि-योगेन फलसिद्धिरुदाहृता ॥ ज्ञाना० २८-२९

जघन्य—इसलिए ध्याता भी तीन प्रकारके हैं और उनके ध्यान भी तीन प्रकारके हैं।'

व्याख्या—ध्यानकी उत्पत्तिमें ध्यानकी सामग्रीका प्रमुख हाथ रहता है और इसलिये उस सामग्रीके मुख्यत· तीन भेद होने-की दृष्टिसे यहाँ ध्याता और ध्यान दोनोंके भी तीन-तीन भेदों-की सूचना की गई है। अगले पद्यमे उन भेदोंको स्पष्ट किया गया है। यहाँ पद्यमे प्रयुक्त हुआ 'आदि' शब्द मुख्यतः काल तथा भाव-का और गौणत अन्य सहायक सामग्रीका भी वाचक है।

सामग्रीत· प्रकृष्टाया ध्यातरि ध्यानमुत्तमम्।
स्याज्जघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम्॥४९॥

'ध्यातामें' उत्तम-सामग्रीके योगसे उत्तम-ध्यान, जघन्य-सामग्रीके योगसे जघन्य-ध्यान और मध्यम-सामग्रीके योगसे मध्यम-ध्यान बनता है।'

व्याख्या—यहाँ जिस सामग्रीका उल्लेख है वह पूर्व-पद्या-नुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी सामग्री है। वह स्थूलरूपसे उत्तम, जघन्य और मध्यमके भेदसे तीन प्रकारकी होती है। जिस ध्याताको उत्तम-सामग्रीकी उपलब्धि होती है, उसमे उत्तम ध्यान बनताहै; जिसको जघन्य-सामग्रीकी उपलब्धि होती है उसमे जघन्य ध्यान बनता है और जिसको मध्यम-सामग्री-की उपलब्धि होती है उसमें मध्यम-ध्यान बनता है। मध्यम-सामग्रीके बहुभेद होनेसे मध्यमध्यानके भी बहुभेद हो जाते हैं। सामग्रीकी दृष्टिसे ध्यानोंके मुख्य तीन भेद होनेसे ध्याताओं-के भी वे ही उत्तम, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद हो जाते हैं।

विकलश्रुतज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता।

श्रुतेन विकलेनाऽपि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्य[2]-ध्यानस्य सुश्रुतः ॥५०॥

'विकल (अपूर्ण) श्रुतज्ञानके द्वारा भी धर्म्यध्यानका ध्याता वह साधक होता है जो कि मनसे स्थिर हो। (शेष) उपशमक और क्षपक दोनों श्रेणियोंके नीचे धर्म्यध्यानका ध्याता प्रकर्ष-रूपसे विकसित-बुद्धिवाला होना शास्त्र-सम्मत है।'

व्याख्या—श्रेणियाँ दो हैं। उपशमक और क्षपक, जिनमें क्रमशः मोहको उपशान्त तथा क्षीण किया जाता है। इन श्रेणियोंके नीचेके अथवा पूर्ववर्ती सात गुण-स्थानोंमें धर्म्यध्यानका ध्याता प्रबुद्धबुद्धि (विशेष श्रुतज्ञानी) होता है, यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है; परन्तु विकलश्रुतका धारी अल्प-ज्ञानी भी धर्म्यध्यानका ध्याता होता है, जो कि मनसे स्थिर हो। दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि जिसने अपने मनको स्थिर करनेका दृढ अभ्यास कर लिया है वह अल्प-ज्ञानके बल पर भी धर्म्यध्यान की पूरी साधना कर सकता है। ऐसी साधना करनेवाले अनेक हुए हैं, जिनमें **शिव-भूतिका** नाम खासतौरसे उल्लेखनीय है, जिन्हें **'तुषमासभिन्न'** जैसे अल्पज्ञानके द्वारा सिद्धिकी प्राप्ति हुई थी[3]।

---

१. श्रुतेन विकलेनाऽपि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः (आर्ष २१-१०२)
श्रुतेन विकलेनाऽपि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः।
अधःश्रेण्या प्रवृत्तात्मा धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः ।।(ज्ञानार्णव २८-२७)।।

२. मु मे धर्म।

३. तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महानुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ ।। (भावपा० ५३)

अल्पज्ञानसे भी सिद्धिकी प्राप्ति होती है, मोक्ष तक मिलता है, इस बातको स्वामी समन्तभद्रने 'ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद-मोहान्मोहिनोऽन्यथा[१]' इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया है—यह बतलाया है कि अल्पज्ञानसे भी मोक्ष होता है, यदि वह अल्पज्ञान मोहसे रहित है और यदि मोहसे युक्त है तो उस अल्पज्ञानीके मोक्ष नहीं होता।

धर्मके लक्षण-भेदसे धर्म्यध्यानका प्ररूपण

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
[२]तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधुः ॥५१॥

'धर्मके ईश्वरों-तीर्थंकरोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको 'धर्म' कहा है, उस धर्म-चिन्तनसे युक्त जो ध्यान है वह निश्चितरूपसे धर्म्यध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—'धर्मादनपेतं धर्म्यम्' इस निरुक्तिके अनुसार धर्म-से युक्त जो ध्यान है उसका नाम धर्म्यध्यान है। इस ध्यानमें धर्मका वह स्वरूप विवक्षित होता है जिसे लेकर ध्यान किया जाता है। यहाँ धर्मका वह स्वरूप दिया गया है जिसे स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) की तीसरी कारिकाके पूर्वार्धमें दिया है, उस कारिकाका वह पूर्वार्ध प्रस्तुत पद्यके पूर्वार्धरूपमे ज्योका त्यो उद्धृत है। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म है। इस धर्मके स्वरूप-का जिस ध्यानमें एकाग्रचिन्तन हो उसे यहाँ धर्म्यध्यान कहा गया है।

---

१. देवागम का० ९८

२. धर्मादनपेत धर्म्यं। (सर्वार्थ० तथा तत्त्वा० वा० ९–२८) तत्रानपेतं यद्धर्मात्तद्ध्यानं धर्म्यमिष्यते। (आर्ष २१–१३३)

आत्मनः परिणामो यो मोह-क्षोभ-विवर्जितः ।
स च धर्मोऽनपेतं यत्तस्माद्धर्म्यमित्यपि ॥५२॥

'(तथा) आत्माका जो परिणाम मोह और क्षोभसे विहीन है वह धर्म है, उस धर्मसे युक्त जो ध्यान है वह भी धर्म्यध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ धर्मका वह स्वरूप दिया गया है जो मोह और क्षोभसे रहित आत्माका निज परिणाम है जिसे श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें निर्दिष्ट किया है[1]। इस धर्म-स्वरूप-के चिन्तनरूप जो ध्यान है उसे भी धर्म्यध्यान समझना चाहिये।

शून्यीभवदिदं विश्वं स्वरूपेण धृतं यतः ।
तस्माद्वस्तुस्वरूपं हि प्राहुर्धर्मं महर्षयः ॥५३॥
ततोऽनपेतं यज्ज्ञानं[2] तद्धर्म्यध्यानमिष्यते ।
धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यमित्यार्षेऽप्यभिधानतः ॥५४॥

'यह विश्व—दृश्यमान वस्तुसमूहरूप जगत—प्रतिक्षण पर्यायों-के विनाशरूप शून्यता अथवा अभावको प्राप्त होता हुआ चूँकि स्वरूपके द्वारा धृत है—पृथक्-पृथक् वस्तु-स्वभावके अस्तित्वको लिए हुए अवस्थित है—वस्तुके स्वरूपका कभी अभाव नहीं होता, इसलिये वस्तु-स्वरूपको ही महर्षियोंने धर्म कहा है। उस वस्तु-स्वरूप धर्मसे युक्त जो ज्ञान है वह धर्म्यध्यान माना जाता है, आर्षमें—भगवज्जिनसेनाचार्य-प्रणीत महापुराणमें—भी 'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यम्' (२१-१३३) ऐसा विधान पाया जाता है जो कि वस्तुके याथात्म्यको—

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ॥१-३७

२. मु मे यज्ज्ञातं ।

यथावस्थित उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूपको—**धर्म प्रतिपादित करता है।'**

व्याख्या—यहाँ धर्मका सहेतुक स्वरूप वह 'वस्तुस्वभाव' दिया गया है, जिसे स्वामिकुमार जैसे आचार्योंने **'धम्मो वत्थु-सहावो'**[1] के रूपमें निर्दिष्ट किया है और जिसका समर्थन **'धर्मो हि वस्तुयाथात्म्यं'** इस आर्षवाक्यके द्वारा भी किया गया है। इस धर्मके स्वरूप-चिन्तनको जो ध्यान लिए हुए हो उसे भी इन पद्योंमें धर्म्यध्यान कहा गया है।

[2]यश्चोत्तमक्षमादिः स्याद्धर्मो दशतयः[3] परः।
ततोऽनपेतं यद्ध्यानं तद्वा धर्म्यमितीरितम् ॥५५॥

'अथवा उत्तमक्षमादिरूप दशप्रकारका जो उत्कृष्ट धर्म है, उससे जो ध्यान युक्त है, वह भी धर्म्यध्यान है, ऐसा कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ धर्मके स्वरूप-निर्देशमें उस दशलक्षणधर्मको ग्रहण किया गया है जो तत्त्वार्थसूत्रादिमें उत्तम विशेषणसे विशिष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यके रूपमें निर्दिष्ट हुआ है[4]। इस दश-लक्षणधर्मके स्वरूप-चितनरूप जो ध्यान है उसे भी धर्म्यध्यान बतलाया गया है। इन धर्मोंके साथ प्रयुक्त **'उत्तम'** विशेषण लौकिक प्रयोजनके परिवर्जनार्थ है। इस दृष्टिको लिए हुए ही ये दशगुण धर्म कहलानेके पात्र हैं; जैसाकि श्रीपूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

---

१. धम्मो वत्थु-सहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खणं धम्मो॥ (कार्तिकानु० ४७८)

२ मु मे यस्तूत्तम। सि जु यद्वोत्तम। ३. मु मे दशतया।

४. उत्तमक्षमा-मार्दवाऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-ऽऽकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः। (त० सू० ९-६)

'दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् । तान्येवंभाव्यमानानि धर्मव्यपदेशभांजि। (सर्वार्थ० ६-६)

इस तरह विवक्षावश धर्मके विविधरूपोकी दृष्टिसे ध्यान विविधरूपको धारण किये हुए भी धर्म्यध्यानके रूपमें स्थित होता है। धर्मके विविधरूपोसे इसमें कोई बाधा नही आती। जिस समय धर्मका जो रूप ध्यानमें स्थित हो उस समय उसी रूप धर्म्य-ध्यानको समझना चाहिए।

इस विषयमें ज्ञानसारकी निम्न गाथा भी ध्यानमें लेने योग्य है.—

सुत्तत्थ-धम्म-मग्गण-वय-गुत्ती समिदि-भावणाईणं ।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाणं तमिह भणियं ॥ १६ ॥

इसमे बतलाया है कि सूत्रार्थ अथवा शास्त्रवाक्योंके अर्थों, धर्मों, मार्गणाओ, व्रतो, गुप्तियो, समितियों, भावनाओं आदिका जो चिन्तवन किया जाता है उस सबको धर्म्यध्यान कहा गया है।

ध्यानका लक्षण और उसका फल

एकाग्र-चिन्ता-रोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः ।
तद्ध्यानं[1] निर्जरा-हेतुः संवरस्य च कारणम् ॥५६॥

'परिस्पन्दसे रहित जो एकाग्र चिन्ताका निरोध है—एक अवलम्बनरूप विषयमें चिन्ताका स्थिर करना है—**उसका नाम ध्यान है और वह** (संचितकर्मोंकी) **निर्जरा तथा** (नये कर्मास्रवके निरोधरूप) **संवरका कारण है।'**

व्याख्या—नाना अर्थों-पदार्थोंका अवलम्बन लेनेसे चिन्ता परिस्पन्दवती होती है—डाँवाडोल रहती है अथवा स्थिर नहीं हो-पाती—उसे अन्य समस्त अग्रों-मुखोसे हटाकर एकमुखी करने-

---

१. एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। (त० सू० ९-२७)

का नाम ही एकाग्रचिन्ता-निरोध है[1], जो ध्यानका सामान्य लक्षण है। ऐसा ध्यान संचितकर्मोंकी निर्जरा तथा नये कर्मोंके आस्रवको रोकनेरूप संवरका कारण होता है। इसीको २४ वें पद्य में 'मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरा-संवर-क्रियः' इन पदों-द्वारा और १७८ वें पद्यमें 'क्षपयत्यर्जितान्मलान्' तथा 'संवृणोत्यप्यना-गतान्' इन पदोंके द्वारा व्यक्त किया गया है। एकाग्रध्यानमें निर्जरा और संवर दोनोंकी शक्तियाँ होती हैं।

ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त शब्दोंका वाच्यार्थ

एकं [2]प्रधानमित्याहुरग्रमालम्बनं मुखम्[3] ।
चिन्ता स्मृतिर्निरोधस्तु[4] तस्यास्तत्रैव वर्तनम् ॥५७॥
द्रव्य-पर्याययोर्मध्ये प्राधान्येन यदर्पितम् ।
तत्र चिन्ता-निरोधो यस्तद्ध्यानं बभणुर्जिनाः ॥५८॥

'(एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं' इस ध्यान-लक्षणात्मक वाक्यमें) 'एक' प्रधानको और 'अग्र' आलम्बनको तथा मुखको कहते हैं। 'चिन्ता' स्मृतिका नाम है और 'निरोध' उस चिन्ताका उसी एकाग्रविषयमें वर्तनका नाम है। द्रव्य और पर्यायके मध्यमें प्रधानतासे जिसे विवक्षित किया जाय उसमें चिन्ताका जो निरोध है—उसे अन्यत्र न जाने देना है—उसको सर्वज्ञ भगवन्तोंने 'ध्यान' कहा है।'

---

१. नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या अन्याऽशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। (सर्वार्थ० ९-२७)

२. प्राधान्यवाचिनो वैकशब्दस्य ग्रहणम्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-२०)

३. अंग्यते तदङ्गमिति तस्मिन्निति वाऽग्रय मुखम्।(तत्त्वा० वा०-९-२७-३ अर्थपर्यायवाची वा अग्रशब्दः। (तत्त्वा० वा० ९-२७-७)

४. मु चिन्तां स्मृति निरोधं तु। मु निरोधं।

व्याख्या—पूर्व पद्यमें दिया हुआ ध्यानका लक्षण जिन शब्दों-से बना है, उनमेंसे प्रत्येकके आशयको यहाँ व्यक्त किया गया है, जिससे भ्रमके लिये कोई स्थान न रहे। 'एक' शब्द संख्या-परक[1] होनेके साथ यहाँ पर प्रधान अर्थमें विवक्षित है; 'अग्र' शब्द आलम्बन तथा मुख अर्थमें प्रयुक्त है और चिन्ताको जो स्मृति कहा गया है वह तत्त्वार्थसूत्रमें वर्णित 'स्मृतिसमन्वा-हारः' का वाचक है, जो उसी विषयकी बार-बार स्मृति, चिन्ता अथवा चिन्ताप्रबन्धका नाम है। इस ध्यानमें द्रव्य तथा पर्यायमें-से किसी एकको प्रधानताके साथ विवक्षित किया जाता है और उसीमें चिन्ताको अन्यत्रसे हटाकर रोका जाता है।

ध्यान-लक्षणमें 'एकाग्र' ग्रहणकी दृष्टि

एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्र्य[2]-विनिवृत्तये[3]।
व्यग्रं हि ज्ञानमेव[4] स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥५६॥

'इस ध्यान-लक्षणमें जो 'एकाग्र' का ग्रहण है वह व्यग्रता-की विनिवृत्तिके लिए है। ज्ञान ही वस्तुतः व्यग्र होता है, ध्यान नहीं। ध्यानको तो एकाग्र कहा जाता है।'

व्याख्या—यहाँ स्थूलरूपसे ज्ञान और ध्यानके अन्तरको व्यक्त किया गया है। ज्ञान व्यग्र है—विविध अग्रों-मुखों अथवा आलम्बनोंको लिए हुए है; जब कि ध्यान व्यग्र नहीं होता, वह एकमुख तथा आलम्बनको लिए हुए एकाग्र ही होता है। वस्तुतः देखा जाय तो ज्ञानसे भिन्न ध्यान कोई जुदी वस्तु नहीं,

---

१. एकशब्दः सख्यापदम्। (तत्त्वार्थ वा० ९-२७-२)
२. मु वै व्यग्र।
३. एकाग्रवचनं वैयग्र्य-निवृत्त्यर्थम्। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१२)
४. मु ह्यज्ञानमेव।
व्यग्रं हि ज्ञानं न ध्यानमिति। (तत्त्वा० वा० ९-२७-१२)

निश्चल अग्निशिखाके समान अवभासमान ज्ञान ही ध्यान कहलाता है; जैसा कि पूज्यपादाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:–

'एतदुक्तं भवति—ज्ञानमेवाऽपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति ।' (सर्वार्थसिद्धि ६-२७)

इससे यह फलित होता है कि ज्ञानकी उस अवस्था-विशेषका नाम ध्यान है, जिसमें वह व्यग्र न रहकर एकाग्र हो जाता है। शायद इसीसे 'ध्यानशतक'की निम्न गाथामें स्थिर अध्यवसानको ध्यान बतलाया है और जिसमे चित्त चलता रहता है उसे भावना, अनुप्रेक्षा तथा चिन्ताके रूपमें निर्दिष्ट किया है:—

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलतयं चित्तं ।
तं होज्ज भावना वा अणुपेहा वा अहव चिंता ॥२॥

एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान कब बनता है और उसके नामान्तर

प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानाऽऽलम्बनवर्तिनीम् ।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः ॥६०॥
तदाऽस्य योगिनो योगश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम् ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्ट-फल-प्रदम् ॥६१॥

'जब विशुद्धबुद्धिका धारक योगी नाना आलम्बनोंमें वर्तनेवाली चिन्ताको खींचकर उसे एक आलम्बनमें ही स्थिर करता है—अन्यत्र जाने नही देता—तब उस योगीके 'चिन्ताका एकाग्र-निरोधन' नामका योग होता है, जिसे प्रसख्यान, समाधि और ध्यान भी कहते हैं और वह अपने इष्टफलका प्रदान करने वाला होता है ।'

व्याख्या—यहाँ पूर्ववर्णित ध्यानके विषयको और स्पष्ट किया गया है और उसीको योग[१], समाधि तथा प्रसंख्यान नाम भी

---

१. युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिर्ध्यानमित्यनर्थान्तरम् ।
—तत्त्वा० वा० ६-१-१२

दिया गया है। साथ ही उसे स्वेष्ट-फलका प्रदाता लिखा है, जो मुख्यतः निर्जरा तथा संवरके रूपमें है और गौणतः अन्य लौकिक फलोंका भी प्रदाता है।

ध्यानके 'योग' और 'समाधि' ये दो नाम तो सुप्रसिद्ध हैं ही, श्रीजिनसेनाचार्यके महापुराणमें इनके साथ धीरोध, स्वान्त-निग्रह और अन्तःसंलीनताको भी ध्यानके पर्यायनाम बतलाया है[1], जो बहुत कुछ स्पष्टार्थको लिए हुए हैं; परन्तु 'प्रसंख्यान' नाम किस दृष्टिको लिए हुए है, यह यहाँ विचारणीय है। खोजने पर पता चला कि यह शब्द मुख्यतः योगदर्शनका है—योगदर्शनके चतुर्थपाद-गत सूत्र २९ में प्रयुक्त हुआ है[2]। 'प्र' और 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'ख्या' धातुसे ल्युट् (अन्) प्रत्यय होकर इस शब्दकी उत्पत्ति हुई है। 'ख्या' धातु गणना, तत्त्वज्ञान और ध्यान जैसे अर्थोंमें व्यवहृत होती है, जिनमेंसे पिछले दो अर्थ यहाँ विवक्षित जान पड़ते हैं। उक्त सूत्रकी टीकाओंसे भी यही फलित होता है जिनमे 'विवेक-साक्षात्कार' तथा 'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति' को प्रसंख्यान बतलाया है[3]। वामन शिवराम आप्टेकी संस्कृत-इंगलिश-डिक्शनरीमें इसके लिए Reflection, meditation, deep meditation, abstract contemplation जैसे अर्थोंका उल्लेख करके उदाहरणके रूपमें 'हरः प्रसंख्यानपरो

---

१. योगो ध्यानं समाधिश्च धी-रोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः॥ (आर्ष २१-१२)

२. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

३. 'प्रसंख्यानं विवेकसाक्षात्कारः' (भावागणेशवृत्ति तथा नागोजीभट्ट-वृत्तिः पृष्ठ २०७)
'षड्विंशतितत्त्वान्यालोचयतः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिर्या जायते सर्वाधिष्ठातृत्वाद्यवान्तरफला तत्प्रसंख्यानम्। (मणिप्रभावृत्ति)
—योगसूत्र पृ० २०७

ब्रूव' यह कुमारसंभव ग्रन्थका वाक्य भी उद्घृत किया है। इससे 'प्रसंख्यान' शब्द भी ध्यान और समाधिका वाचक है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अग्रका निरुक्त्यर्थ

अथवाऽङ्गति जानातीत्यग्रमात्मा[1] निरुक्तितः।
तत्त्वेषु चाऽग्र-गण्यत्वादसावग्रमिति स्मृतः ॥६२॥

'अथवा 'अंगति जानाति इति अग्र'' इस निरुक्तिसे 'अग्र' आत्माका नाम है, जोकि जानता है और वह आत्मा (जीवादि नव) तत्त्वोंमें अग्रगण्य होनेसे भी 'अग्र' रूपसे स्मरण किया गया है।'

व्याख्या—यहाँ दो दृष्टियासे 'अग्र' नाम आत्माका बतलाया है—एक निरुक्तिकी दृष्टि, जो ज्ञाता अर्थको व्यक्त करती है, दूसरी तत्त्वोंमें अग्रगण्यताकी दृष्टि, जिससे सात तथा नवतत्त्वोंकी गणनामें जीवात्माको पहला स्थान प्राप्त है। छह द्रव्योंमें भी उसकी प्रथम गणना की जाती है।

द्रव्यार्थिक-नयादेकः केवलो वा तथोदितः।
अन्तः-करणवृत्तिस्तु [2]चिन्तारोधो नियंत्रणा ॥६३॥

'द्रव्यार्थिक-नयसे 'एक' शब्द केवल (असहाय) अथवा तथोदित (शुद्ध) का वाचक है; 'चिन्ता' अन्तकरणकी वृत्तिको कहते हैं और 'रोध' नाम नियन्त्रणका है'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयकी दृष्टिसे 'एक' आदि शब्दोंके आशयको व्यक्त किया गया है, जिससे 'एक' शब्द शुद्धात्माका वाचक होकर उसीमें चित्तवृत्तिके नियन्त्रणका नाम ध्यान हो जाता है।

---

१. अङ्गतीत्यग्रमात्मेति वा (तत्त्वा० वा० ९-२७-२१)
२. चिन्ता अन्तःकरणवृत्तिः। (तत्त्वा० वा० ९-२७-४)

चिन्तानिरोधका वाच्यान्तर

अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिन्तान्तर-व्ययः ।
एकचिन्तात्मको यद्वा स्वसंविच्चिन्तयोज्झिता[1] ॥६४॥

'अथवा अभावका नाम 'निरोध' है और वह दूसरी चिन्ताके विनाशरूप एकचिन्तात्मक है अथवा चिन्तासे रहित स्वसंवित्ति-रूप है।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमें जिसे 'रोध' शब्दसे उल्लेखित किया है उसीके लिये इस पद्यमें 'निरोध' शब्द प्रयोग किया गया है। इससे रोध और निरोध शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। 'चिन्ता' शब्दके साथ प्रयुक्त हुआ रोध या निरोध शब्द जब अभाव अर्थका वाचक होता है तब उसका आशय चिन्तान्तरके—दूसरी चिन्ताओं के—अभाव रूप होता है, न कि चिन्तामात्रके अभावरूप, और इसलिये उसे एकचिन्तात्मक अथवा चिन्ताओंसे रहित स्वसंवेदनरूप भी कहा जाता है। निरोधका अभाव अर्थ ध्येयवस्तुकी किसी एक पर्यायके अभावकी दृष्टिको भी लिये हुए होता है और इससे ध्यान सर्वथा असत् नहीं ठहरता। अन्य चिन्ताके अभावकी विवक्षामें वह असत् (अभावरूप) है। किन्तु विवक्षित अर्थ-विषयके अधिगमस्वभाव-रूप सामर्थ्यकी अपेक्षासे सत्रूप ही है[2]।

तत्राऽऽत्मन्यासहाये यच्चिन्तायाः स्यान्निरोधनम् ।
तद्ध्यानं तदभावो वा स्वसंवित्ति-मयश्च सः ॥६५॥

---

१. ज सि जु स्वसंवित्तिस्तयोज्झिता । मु मे चिन्तयोज्झितः ।

२. "(अभावः) केनचित्पर्यायेणेष्टत्वात् । अन्यचिन्ताऽभावविवक्षाया-मसदेव ध्यानम्; विवक्षितार्थविषयमस्वभावसामर्थ्यापेक्षया सदेवेति चोच्यते । (तत्त्वा० वा० ९-२७-१६)

'किसीकी भी सहायतासे रहित उस केवल शुद्धआत्मामें जो चिन्ताका नियन्त्रण है उसका नाम ध्यान है अथवा उस आत्मामें चिन्ताके अभावका नाम ध्यान है और वह स्वसंवेदन-रूप है।'

व्याख्या—पूर्व पद्यमें जो बात मुख्यत: कही गई है उसीको शुद्ध आत्मा पर घटित करते हुए यहाँ और स्पष्ट करके बतलाया गया है और यह साफ कर दिया गया है कि शुद्धात्माके विषय-में जो चिन्ताका नियन्त्रण है अथवा अभाव है वह सब स्वसंवेदन-रूप ध्यान है।

कौनसा श्रुतज्ञान ध्यान है और ध्यानका उत्कृष्ट काल

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चलम्।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलदं ध्यानमाऽऽ-ऽन्तर्मुहूर्ततः ॥६६॥

'जो श्रुतज्ञान उदासीन—रागद्वेषसे रहित उपेक्षामय-यथार्थ और अत्यन्त स्थिर है वह ध्यान है, अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहता और स्वर्ग तथा मोक्ष-फलका दाता है।'

व्याख्या—यहाँ जिस श्रुतज्ञानको ध्यान बतलाया है उसके तीन महत्त्वपूर्ण विशेषण दिये हैं—पहला 'उदासीन', दूसरा 'यथार्थ' और तीसरा 'अतिनिश्चल'। इन विशेषणोंसे रहित जो श्रुतज्ञान है वह ध्यानकी कोटिमें नहीं आता; क्योंकि वह व्यग्र होता है और ध्यान व्यग्र नहीं होता; जैसा कि पूर्वपद्य (५९) में प्रकट किया जा चुका है।

'आ अन्तर्मुहूर्ततः' पदके द्वारा यहाँ एक विषयमें ध्यानके उत्कृष्ट कालका निर्देश किया गया है; जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्रके ९ वें अध्यायमें 'आन्तर्मुहूर्तात्' पदके द्वारा विहित हुआ है। यह काल भी उत्तमसहननवालोंकी दृष्टिसे है—हीनसहननवालोंका एक ही विषयमें लगातार ध्यान इतने समय तक न ठहर सकने-

के कारण इससे भी कम कालकी मर्यादाको लिये हुए होता है[1]। ऐसा श्रुतज्ञान स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिरूप फलको फलता है, यह सब उसके उक्त तीन विशेषणोंका माहात्म्य है। अन्यथा रागद्वेषसे पूर्ण, अयथार्थ और अतिचचल श्रुतज्ञान वैसे किसी फलको नहीं फलता।

यहाँ अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त कालके सम्बन्धमे इतना और भी जान लेना चाहिये कि यह एक वस्तुमें छद्मस्थोंके चित्तके अवस्थान-कालको दृष्टिसे है, केवलज्ञानियोकी दृष्टिसे नहीं। अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् चिन्ता दूसरी वस्तुका अवलम्बन लेकर ध्यानान्तरके रूपमे बदल जाती है। और इस तरह बहुत वस्तुओंका सक्रमण होने पर ध्यानकी सन्तान चिरकाल तक भी चलती रहती है[2]। इसलिये यदि कोई छद्मस्थ अधिक समय तक ध्यान लगाये बैठा या समाधिमें स्थित है तो उससे यह न समझ लेना चाहिये कि वह एक वस्तुके ध्यानमें अन्तर्मुहूर्त-कालसे अधिक समय तक स्थिर रहा है; किन्तु यह समझना चाहिये कि उसका वह ध्यानकाल अनेक ध्यानोंका सन्तानकाल है।

ध्यानके निरुक्त्यर्थ

ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥६७॥

---

१. उत्तमसहननाभिधानमन्यस्येयत्कालाध्यवसायधारणाऽसामर्थ्यात्। (तत्वा० वा० ९-२७-११)

२. अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंम्मि।
छउमत्थाणं झाणं जोगणिनिरोहो जिणाणं तु ॥३॥
अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जा हि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थु-संकमे झाण-संताणो ॥४॥
—ध्यानशतक

'जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है अथवा जो ध्यान करता है वही ध्यान है, जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है; अथवा ध्यातिका—ध्येय वस्तुमें परमस्थिर-बुद्धिका—नाम भी ध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यान शब्दकी निरुक्ति-द्वारा उसे करण, कर्ता, अधिकरण और भाव-साधनरूपमे चार अर्थोंका द्योतक बतलाया गया है। अगले पद्योमे इन सबका स्पष्टोकरण किया गया है।

स्थिर-मन और तात्त्विक-श्रुतज्ञानको ध्यान संज्ञा

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः।
ततः स्थिर मनो ध्यानं श्रुतज्ञानं च तात्त्विकम्॥६८॥

'चूँकि योगीजन श्रुतज्ञानरूप परिणत मनके द्वारा ध्यान करते हैं इसलिये स्थिर मनका नाम ध्यान और स्थिर तात्त्विक (यथार्थ) श्रुतज्ञानका नाम भी ध्यान है।'

व्याख्या—इस पद्यमे करण-साधन-निरुक्तिकी दृष्टिसे[1] स्थिर-मन और स्थिर-तात्त्विक-श्रुतज्ञानको ध्यान बतलाया गया है; क्योकि इनके द्वारा योगीजन ध्यान करते हैं, यह कथन निश्चयनयकी दृष्टिसे है।

आत्मा ज्ञान और ज्ञान आत्मा

ज्ञानादर्थान्तराऽप्राप्तादात्मा[2] ज्ञानं न चान्यतः।
एकं पूर्वापरोभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तितम् ॥६८॥

'ज्ञानसे आत्मा अर्थान्तरको—भिन्नता अथवा पृथक्-पदार्थत्वको—**प्राप्त नहीं है; किन्तु अन्य पदार्थोंसे वह अर्थान्तरको प्राप्त न हो ऐसा नहीं**—उनसे अर्थान्तरत्व अथवा भिन्नताको ही प्राप्त है। **ऐसी स्थितिमें 'जो आत्मा वह ज्ञान' और 'जो ज्ञान वह**

---

१. ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यान करणसाधनम्। (आर्ष २१-१३)
२. मु ज्ञानादर्थान्तरादात्मा तस्माज्।

आत्मा' इस प्रकार एक ही वस्तु पूर्वापरीभूतरूपसे—कभी आत्मा-को पहले ज्ञानको पीछे और कभी ज्ञानको पहले आत्माको पीछे रखकर—कही गयी है।'

व्याख्या—ज्ञान और आत्मा ये एक ही पदार्थके दो नाम हैं, इसलिये इनमेसे जो जब विवक्षित होता है उसका परिचय तब दूसरे नामके द्वारा कराया जाता है। जब आत्मा नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचयके लिये कहा जाता है कि वह ज्ञान-स्वरूप है, और जब ज्ञान नाम विवक्षित होता है तब उसके परिचयके लिये कहा जाता है कि वह आत्म-स्वरूप है। इन दोनों नामोके दो नमूने इस प्रकार है:—

'णाण अप्पा सव्वं जम्हा सुयकेवली तम्हा।' (समयसार १०)

'आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।'

(समयसार-कलश ३-१७)

यहाँ पूर्वाऽपर-पद्यो (६८,७०) के मध्यमें इस पद्यकी स्थिति कुछ खटकती हुई जान पडती है; क्योकि इससे कथनका सिल-सिला (क्रम) भग होता है और यह कुछ अप्रासंगिक-जैसा जान पडता है। जयपुरके दिगम्बर जैन बडा मन्दिर तेरहपन्थीकी प्रति (ज) मे, जो सवत् १५६० आषाढवदि सप्तमीको लिखी हुई है, यह पद्य नही है। आराके जैनसिद्धान्त-भवनकी प्रति (सि) मे भी, जो कि वेणूपुरस्थ पन्नेचारिस्थित केशव शर्मा नामके एक दक्षिणी विद्वान्-द्वारा परिधावि सवत्मे द्वि० आषाढ कृष्ण एकादशीको सोमवारके दिन लिखकर समाप्त हुई है, यह पद्य नही है, और मेरी निजी प्रति (जु)में भी, जो सागली निवासी पॉगलगोत्रीय बापूराव जैनकी लिखी हुई है, यह पद्य नही है। श्री प० प्रकाशचद्रजीने व्यावरके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनकी प्रति (वि० स० १९६६) को देखकर लिखा है कि 'उसमे यह ६९ वां पद्य नही है'। ऐसी स्थितिमे यह पद्य

यहाँ प्रक्षिप्त हुआ जान पडता है। कौनसे मूलग्रन्थका प्रस्तुत पद्य अंग है, यह बात बहुत ग्रन्थोका अवलोकन कर जाने पर भी अभी तक मालूम नही हो सकी। हाँ, अध्यात्मतरंगिणीके ३९वें पद्यकी गणधरकीर्तिकृत टीकामे यह पद्य कुछ पाठ-भेद तथा अशुद्धिके साथ निम्नप्रकारसे उद्धृत पाया जाता है :—

ज्ञानादर्थान्तिरं नात्मा तस्माज्ज्ञानं न चापि (त्म) नः।
एक पूर्वापरीभूत ज्ञानमात्मेति कथ्यते ।।

गणधरकीर्तिकी यह टीका संवत् ११८९ चैत्र शुक्ला पंचमी-को बनकर समाप्त हुई है और इसलिये यह पद्य उससे पूर्वनिर्मित किसी ग्रन्थका पद्य है। हो सकता है कि वह ग्रन्थ स्वामी-समन्त-भद्र-कृत 'तत्त्वानुशासन' ही हो; क्योंकि टीकामे इससे पूर्व जो पद्य उद्धृत है वह 'तदुक्तं समन्तभद्रस्वामिभिः' वाक्यके साथ दिया है और प्रस्तुत पद्यको 'तथा ज्ञानात्मनोरभेदोऽप्युक्तः' वाक्यके साथ दिया है, जिसमें प्रयुक्त 'अपि' शब्द स्वाम्युक्तत्वका सूचक है।

ध्याताको ध्यान कहनेका हेतु

ध्येयार्थाऽऽलम्बनं ध्यानं ध्यातुर्यस्मान्न भिद्यते।
द्रव्यार्थिकनयात्तस्माद्ध्यातैव ध्यानमुच्यते ।।७०।।

'द्रव्यार्थिक (निश्चय) नयकी दृष्टिसे ध्येय वस्तुके अव-लम्बनरूप जो ध्यान है वह चूँकि ध्यातासे भिन्न नहीं होता—ध्याता आत्माको छोड़कर अन्य वस्तुका उसमें आलम्बन नहीं—इसलिये ध्याता ही ध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ कर्तृसाधन-निरुक्तिकी दृष्टिसे[1] ध्याताको

१. 'ध्यायतीति ध्यानमिति बहुलापेक्षया कर्तृसाधनश्च युज्यते।' (तत्त्वा० वा० ९-२७)
'ध्यातीति च कर्तृत्वं वाच्यं स्वातन्त्र्यसंभवात्' (आर्ष २१-१३)

ध्यान कहा गया है; क्योंकि निश्चयनयसे ध्यान ध्यातासे कोई जुदी वस्तु नही है—निश्चयनयकी दृष्टिमें ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यानके साधनादिका कोई विकल्प ही नहीं होता।

ध्यानके आधार और विषयको भी ध्यान कहनेका हेतु

ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्निश्चयमाश्रितैः।
तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माऽधिकरण-द्वयम् ॥७१॥

'निश्चयनयका आश्रय लेनेवालोंके द्वारा चूंकि ध्येयको ध्यातामें ध्याया जाता है इसलिये यह कर्म तथा अधिकरण दोनों रूप भी ध्यान है।'

व्याख्या—यहाँ कर्मसाधन और अधिकरणसाधन-निरुक्ति-की दृष्टिसे ध्येय और ध्येयके आधारको भी ध्यान कहा गया है; क्योंकि निश्चयनयसे ये दोनों भी ध्यानसे भिन्न नही हैं।

ध्यातिका लक्षण

इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्सन्तान-वर्तिनी।
ज्ञानाऽन्तराऽपरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥७२॥

'सन्तान-क्रमसे चली आई जो बुद्धि अपने इष्ट-ध्येयमें स्थिर हुई दूसरे ज्ञानका स्पर्श नहीं करती, वह 'ध्याति' रूप ध्यान कही गई है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यातिके स्वरूपका निर्देश करते हुए उसे भाव-साधनकी दृष्टिसे[1] ध्यान कहा गया है। निश्चयनयकी दृष्टिसे शुद्ध स्वात्मा ही ध्येय है। प्रवाहरूपसे शुद्ध-स्वात्मामें वर्तनेवाली बुद्धि जब शुद्ध-स्वात्मामें इतनी अधिक स्थिर हो जाती है कि शुद्धात्मासे

---

१. ध्येयं प्रति अव्यापृतस्य भावमात्रेणाभिधाने ध्यातिर्ध्यानमिति भाव-साधनो ध्यान-शब्द.।' (तत्त्वा० वा० ६-२७)
भावमात्राभिधित्सायां ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते। (आर्ष २१-१४)

भिन्न किसी दूसरे पदार्थके ज्ञानका स्पर्श तक नहीं करती तब वह ध्यानारूढ़बुद्धि 'ध्याति' ही ध्यान कहलाती है। इसी बातको प० आशाधरजीने 'अध्यात्म-रहस्य' में ध्यातिके निम्न लक्षण-द्वारा व्यक्त किया है :—

सन्तत्या वर्तते बुद्धिः शुद्धस्वात्मनि या स्थिरा।
ज्ञानान्तराऽस्पर्शवती सा ध्यातिरिह गृह्यताम्॥ ८॥

ध्यानके उक्त निरुक्त्यर्थोंकी नय-दृष्टि

एवं[1] च कर्त्ता करणं कर्माऽधिकरणं फलं।
ध्यानमेवेदमखिलं निरुक्तं निश्चयान्नयात्॥७३॥

'इस प्रकार निश्चयनयकी दृष्टिसे यह कर्त्ता, करण, कर्म, अधिकरण और फलरूप सब ध्यान ही कहा गया है।'

व्याख्या—यह पद्य ध्यानकी निरुक्ति तथा तदर्थ-स्पष्टि-विषयक उस कथनके उपसंहारको लिये हुए है जिसका प्रारम्भ 'ध्यायते येन तद्ध्यान (६७) इस वाक्यसे हुआ था। इसमें स्पष्ट कह दिया गया है कि निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानका कर्त्ता, ध्यानका करण, ध्यानका कर्म, ध्यानका अधिकरण और ध्यानका फल यह सब ध्यानरूप ही है। क्योंकि निश्चयनयका स्वरूप ही **'अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयो निश्चयो नयः.'** इस ग्रन्थ-वाक्य (२९) के अनुसार ध्यानके कर्त्ता, करणादिको एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं करता और इसलिये ध्यान शब्दकी निरुक्तियोंमें उन सबका समावेश हो जाता है। यहाँ कर्त्ता आदि पदोंके अन्तमें 'फल' पदका प्रयोग इस बातका सूचक है कि पूर्वपद्यमें 'ध्याति'-का जो उल्लेख है वह ध्यानफलके रूपमें है।

निश्चयनयसे षट्कारकमयी आत्मा ही ध्यान है

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः।
षट्कारकमयस्तस्माद् ध्यानमात्मैव निश्चयात्॥७४॥

---

१. मु एकं।

'चूंकि आत्मा अपने आत्माको अपने आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माके लिये अपने आत्महेतुसे ध्याता है। इसलिये कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ऐसे षट्कारकरूप परिणत हुआ आत्मा ही निश्चयनयकी दृष्टिसे ध्यानस्वरूप है।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयनयकी दृष्टिको और स्पष्ट किया गया है और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि आत्मा ही ध्यानके समय किस प्रकारसे षट्कारकमय हुआ ध्यानस्वरूप होता है। जो ध्याता है वह आत्मा (कर्त्ता), जिसको ध्याता है वह शुद्ध स्वरूप आत्मा (कर्म), जिसके द्वारा ध्याता है वह ध्यानपरिणति-रूप आत्मा (करण), जिसके लिए ध्याता है वह शुद्धस्वरूपके विकास-प्रयोजनरूप आत्मा (सम्प्रदान), जिस हेतुसे ध्याता है वह सम्यग्दर्शनादिहेतुभूत आत्मा (अपादान), और जिसमें स्थित होकर अपने अविकसित शुद्धस्वरूपको ध्याता है वह आधारभूत अन्तरात्मा (अधिकरण) है। इस तरह शुद्धनयकी दृष्टिसे, जिसमें कर्त्ता-कर्मादि भिन्न नहीं होते,[1] अपना एक आत्मा ही ध्यानके समय षट्कारकमय परिणत होता है।

ध्यानकी सामग्री

सग-त्यागः कषायानां निग्रहो व्रत-धारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यान-जन्मनि[2] ॥७५॥

'परिग्रहोंका त्याग, कषायोंका निग्रह-नियत्रण, व्रतोंका धारण और मन तथा इन्द्रियोंका जीतना, यह सब ध्यानकी उत्पत्ति-निष्पत्तिमें सहायभूत-सामग्री है।'

---

१. अभिन्न कर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः। (तत्त्वानु० २९)

२. मु मे जन्मने।

व्याख्या—यहाँ सगत्यागमें बाह्य-परिग्रहोंका त्याग अभिप्रेत है; क्योंकि अन्तरग-परिग्रहमें क्रोधादि कषायें तथा हास्यादि नोकषायें आती हैं, जिन सबका कषायोंके निग्रहमें समावेश है। कुसगतिका त्याग भी सगत्यागमें आ जाता है—वह भी सद्-ध्यानमें बाधक होती है। व्रतोंमें अहिंसादि महाव्रतों तथा अणु-व्रतों आदिका ग्रहण है। अनशन, ऊनोदर आदिके रूपमें अनेक प्रतिज्ञाएँ भी व्रतोंमें शामिल हैं। इन्द्रियोंके जयमें स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्र ऐसे पाँचों इन्द्रियोंका विजय विवक्षित है। ध्यानकी और भी सामग्री है; परन्तु यहाँ सर्वतोमुख्य सामग्रीका उल्लेख है, शेष सामग्रीका 'च' शब्दमें समुच्चय किया गया है उसे अन्य ग्रन्थोके सहारेसे जुटाना चाहिये। इस ग्रन्थमें भी परिकर्म आदिके रूपमें जो कुछ अन्यत्र कहा गया है उसे भी ध्यानकी सामग्री समझना चाहिए।

इस विषयके विशेष परिज्ञानके लिए ग्रन्थका २१८ वां पद्य और उसकी व्याख्या भी अवलोकनीय है।

मनको जीतनेवाला जितेन्द्रिय कैसे ?

इन्द्रियाणां [1]प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभु[2]।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥७६॥

'इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंमें मन प्रभु–सामर्थ्यवान्-है, इसलिए (मुख्यत:) मनको ही जीतना चाहिये। मनके जीतने पर मनुष्य (वास्तवमें) जितेन्द्रिय होता है—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है।'

---

१. सि जु निवृत्तौ च प्रवृत्तौ।

२. सम्पादनोपयुक्त सभी प्रतियोंमें 'प्रभुः' पाठ है, जो नपुंसकलिंगी 'मनः' पदके साथ ठीक मालूम नहीं होता। 'प्रभु' शब्द त्रिलिंगी है अतः उसका नपुंसकलिंगी 'प्रभु' रूप यहाँ उपयुक्त जान पड़ता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियोंसे भी पहले मनको जीतनेका सहेतुक निर्देश किया गया है और यह बतलाया गया है कि मनको जीतने पर मनुष्य सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। जिसने अपने मनको नहीं जीता वह इन्द्रियोंको क्या जीतेगा ? मनके संकल्प-विकल्प-रूप व्यापारको रोकना अथवा मनकी चंचलताको दूर कर उसे स्थिर करना 'मनको जीतना' कहलाता है। मनका व्यापार रुकने अथवा उसकी चंचलता मिटनेपर इन्द्रियोंका व्यापार स्वतः रुक जाता है—वे अपने विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं—उसी प्रकार जिस प्रकार कि वृक्षका मूल छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसमें पत्र-पुष्पादिककी उत्पत्ति नहीं हो पाती[1]।

इन्द्रिय-घोड़े किसके द्वारा कैसे जीते जाते हैं ?

ज्ञान-वैराग्य-रज्जुभ्यां नित्यमुत्पथवर्तिनः ।
जितचित्तेन शक्यन्ते धर्तुमिन्द्रिय-वाजिनः ॥७७॥

'जिसने मनको जीत लिया है उसके द्वारा सदा उन्मार्गगामी इन्द्रियरूपी घोड़े ज्ञान और वैराग्य नामकी दो रज्जुओं-रस्सियों-के द्वारा धारण किये जा सकते—अपने वशमें रक्खे जा सकते—हैं।'

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियोंको उन घोड़ोंकी उपमा दी गई है जो सदा उन्मार्गगामी रहते हैं; उन्हें जितचित्त मनुष्य ज्ञान और वैराग्यकी दोनों रासोंसे अपने आधीन करनेमें समर्थ होता है। ज्ञान और वैराग्य ये दो प्रमुख साधन इन्द्रियोंको वशमें करनेके हैं। अज्ञानी प्राणी इन्द्रिय-विषयोंके गुण-दोषोंका परिज्ञान न

१. णट्ठे मनवावारे विसयेसु ण जंति इंदिया सव्वे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कुत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥६१॥
—आराधनासारे, देवसेनः

होनेसे सदा उनके वशमें पड़े रहते हैं और पंडितजन जो शास्त्रोंका बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अपने विवेकको जागृत नहीं कर पाते और इसलिए इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्तिको प्राप्त नहीं होते— उलटा उनकी प्राप्तिको अपना स्वार्थ समझते रहते हैं—वे भी इन्द्रियोंके विषयमें उलझे रहते हैं। अतः जितचित्तके पास सच्चा ज्ञान और वैराग्य दोनों साधन इन्द्रियोंको जीतनेके लिये होने चाहियें। ये दोनों प्रथमतः मनको जीतनेके भी साधन हैं। ज्ञान और वैराग्य तीन लोकमें सार पदार्थ हैं। अपनी पूर्णावस्थामे शिव-स्वरूप होते हैं और अपूर्णावस्थामें ये ही शिव-स्वरूपकी प्राप्तिके साधन बनते हैं[1]। इन्द्रियोका जय(संयम)शिव-सुखकी प्राप्तिकी ओर एक बड़ा कदम है। जो यह कदम न उठाकर इन्द्रियोके दास बने रहते हैं उन्हें न जाने ये उन्मार्गगामो घोड़े किस किस खड्डेमें पटककर दुःखका भाजन बनाते हैं। नीतिकारोंने भी इसीसे इन्द्रियोके असयमको विपदा और दुःखोंका मार्ग (हेतु) और उनके जयरूप सयमको सम्पदाओं (सुखों) का मार्ग बतलाया है और इनमेंसे जिस मार्ग पर चलना इष्ट हो उस पर चलनेकी प्रेरणा की है[2]। अर्थात् यह प्रतिपादन किया है कि यदि आप सुख चाहते हो तो इन्द्रियोंको संयमसे स्वाधीन रखो और दु.ख चाहते हो तो सदा उनके गुलाम बने रहो।

वास्तवमे देखा जाय तो इन्द्रियाँ उन बिजलियोंके समान हैं जो कट्रोल (नियन्त्रण) में रखे जाने पर हमें प्रकाश प्रदान करती तथा हमारे यन्त्रोका सचालन कर हमारे अनेक प्रकारके

---

१. तीन भुवनमें सार, वीतराग-विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारके॥
—पं० दौलतराम, छहढाला

२ आपदा कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जय. सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

कामोंको सिद्ध करती हैं; परन्तु कंट्रोलमें न रहने अथवा न रखे जाने पर वे ही अग्निकाण्डादिके द्वारा हमारा सर्वनाश करने और हमें मार डालने तकमें समर्थ हो जाती हैं।

जिस उपायसे भी मन जीता जासके उसे अपनानेकी प्रेरणा

येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तुं[1] चलं मनः।
स एवोपासनीयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥७८॥

'**जिस उपायसे भी 'चंचल मनको भले प्रकार नियंत्रणमें रखा जासके वही उपाय यहाँ उपासनीय है**—व्यवहारमें लिये जाने (अपनाने) के योग्य है—**उससे उपेक्षा धारण कर विरक्त कभी नहीं होना चाहिये**—जो भी उपाय बने उससे मनको सदा अपने वशमें रखना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ चचल मनको जैसे भी बने अपने वशमें रखने-की सातिशय प्रेरणा की गई है और उसके लिये जो कोई भी उपाय जिस समय उपयुक्त हो उसे उस समय काममें लानेकी लेशमात्र भी उपेक्षा-लापर्वाही न की जानी चाहिये, ऐसा सुझाव दिया है। मनको जीतनेके अनेक उपाय हैं, जिनमेसे प्रमुख दो उपायोका निर्देश ग्रन्थकार महोदय स्वयं आगे करते हैं।

मनको जीतनेके दो प्रमुख उपाय

संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थ-पराङ्मुखः ॥७९॥

'**जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओंका**—अनित्यादि भावनाओंका—**भले प्रकार चिन्तन करता है, स्वाध्यायमें उद्यमी और इन्द्रिय-विषयोंसे प्रायः मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही** (निश्चित रूपसे) **मनको जीतता है**।'

---

१. ज सि जु तन्नियन्तुं।

व्याख्या—यहाँ मनको जीतनेके दो प्रमुख उपायोंका निर्देश किया गया है—एक अनुप्रेक्षाओंका[१] सचिन्तन, दूसरा स्वाध्यायमें नित्य उद्यमी रहना। इन दोनोंकी साधनामें लगा हुआ साधु पुरुष मनको निश्चित रूपसे जीतता है और (फलतः) इन्द्रिय-विषयोंसे पराङ्मुख होता है। इन्द्रिय-विषयोंसे पराङ्मुखता भी मनको जीतनेका एक साधन होती है और उस अर्थमें उसका आशय इन्द्रिय-विषयोमें अनासक्तिको समझना चाहिये; क्योंकि इन्द्रिय-विषयोंमें जो मन आसक्त होता है वह इन्द्रियोंको जीतनेमें समर्थ नही होता।

इस पद्यमे अनुप्रेक्षाओं-भावनाओंके साथ किसी संख्याविशेष-का उल्लेख नही किया गया; इससे अनित्य, अशरण आदि रूपसे प्रसिद्ध जो द्वादश अनुप्रेक्षा अथवा बारह भावनाएँ हैं, उनसे भिन्न दूसरी ज्ञानादि चार भावनाओंका भी यहाँ ग्रहण किया जाना चाहिये, जिनका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्यने **'ज्ञानदर्शन-चारित्रवैराग्योपगताश्च ता.'** इस वाक्यके साथ अपने आर्ष ग्रन्थ महापुराणके २१वें पर्वमें किया है[२]। तदनुसार वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षण, परिवर्तन (ग्रन्थों, श्लोकों, वाक्योंका कण्ठस्थ करना या पाठ करना) और सद्धर्म-देशना ये ज्ञानकी पांच भावनाएँ हैं, जो प्राय· तत्त्वार्थसूत्रगत स्वाध्याय के पच भेदोंके रूपमे है[३]। संवेग,

---

१. अनुप्रेक्षाश्च धर्म्यस्य स्यु. सदैव निबन्धनम्। (ज्ञाना० ४१-३)

२. ध्यानशतकमे भी इन चारो भावनाओंका उल्लेख है और इनके पूर्वकृत अभ्यासको ध्यानकी योग्यता प्राप्त करनेवाला लिखा है:—
पुव्वकयब्भासो भावनाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य णाण-दसण-चरित्त-वेरग्ग-जणियाओ ॥३०॥

३. वाचना-पृच्छने सानुप्रेक्षण परिवर्तनम्।
सद्धर्मदेशन चेति ज्ञातव्या ज्ञान-भावना ॥ आर्ष २१-९६ ॥

प्रशम, स्थैर्य (धैर्य), असंमूढता, अगर्वता, आस्तिक्य, अनुकम्पा ये सात सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन)की भावनाएँ हैं[1]। ईर्यादि पांच समितियाँ, मन-वचन-कायके निग्रहरूप तीन गुप्तियाँ और परीषह-सहिष्णुता, ये चारित्रकी भावनाएँ हैं[2]। विषयोंमें अनासक्तता, कायतत्त्वका अनुचिन्तन और जगतके स्वभावका विवेचन, ये वैराग्यको स्थिर करनेवाली भावनाएँ हैं[3]। इसी प्रकार अहिंसादिव्रतोंकी जो तत्त्वार्थसूत्रादि-वर्णित २५ भावनाएँ हैं उनका स्वरूप-चिन्तन भी यहाँ ग्रहण किये जानेके योग्य है। साथ ही, दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण भावनाओंको भी लिया जा सकता है।

स्वाध्यायका स्वरूप

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः[4] पंचनमस्कृतेः।
पठनं[5] वा जिनेन्द्रोक्त-शास्त्रस्यैकाग्र-चेतसा ॥८०॥

'पंचनमस्कृतिरूप नमोकारमंत्रका जो चित्तकी एकाग्रताके साथ जपना है वह परम स्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र-कथित शास्त्रका जो एकाग्र चित्तसे पढ़ना है वह स्वाध्याय है।'

व्याख्या—यहाँ स्वाध्यायमें जिस विषयका ग्रहण है उसको स्पष्ट किया गया है और उसके दो भेद किये गये हैं—एक जप और दूसरा पठन। जप पंचनमस्कारका, जो कि **'णमो अरहंताण**

---

१. संवेगः प्रशमस्थैर्यमसंमूढत्वमस्मया'।
आस्तिक्यमनुकम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्व-भावनाः ॥ आर्ष-२१-९७ ॥

२. ईर्यादिविषया यत्ना मनोवाक्-काय-गुप्तयः।
परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावनाः ॥ आर्ष २१-९८॥

३. विषयेष्वनभिष्वंगः कायतत्त्वाऽनुचिन्तनम्।
जगत्स्वभावं चिन्त्येति वैराग्य-स्थैर्य-भावनाः ॥आर्ष २१-९९॥

४. मु मे जयः। ५. सि जु चिन्तनं।

णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण' इस अपराजित मंत्रके रूपमें है, और पठन जिनेन्द्रोक्त शास्त्रका बतलाया है। इन दोनोके लिए '**एकाग्रचेतसा'** विशेषण खास तौरसे ध्यानमे लेने योग्य है। एकाग्रचित्तताके बिना न जपना ठीक बैठता है और न पढना। जिस प्रकार जिनागमका एकाग्रचित्तसे पढना स्वाध्याय है उसी प्रकार णमोकार मत्रका एकाग्रचित्तसे जपना भी स्वाध्याय है। स्वाध्यायके भेदोमें वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पांच नाम प्रसिद्ध हैं[१] और इनके कारण ही स्वाध्यायको तत्त्वार्थसूत्रादि आगमग्रन्थोमे पचभेदरूप वर्णन किया है। इससे पच नमस्कृतिके जपको जो यहाँ स्वाध्याय कहा गया है वह कुछ खटकने जैसी बात मालूम होती है, परन्तु विचारने पर खटकनेकी कोई बात मालूम नही होती, क्योकि यहाँ एकाग्रचित्तसे जपकी बात विवक्षित है, तोता-रटन्तके तौर पर नही। एकाग्रचित्तसे जब अरहन्तादि पच-परमेष्ठियोके स्वरूपका ध्यान किया जाता है तो उससे बढ़कर दूसरा स्वाध्याय(स्व अध्ययन) और क्या हो सकता है? प्रवचन-सारमे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने लिखा है कि 'जो अर्हन्तको द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्वके द्वारा जानता है वह आत्माको जानता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है[२]। अतः एकाग्रचित्तसे पच-परमेष्ठियोके स्वरूपको स्वानुभूतिमे लाते हुए जो णमोकार मंत्रका जप है, वह परम स्वाध्याय है, इसमे विवादके लिये कोई स्थान नही है। योगदर्शनमे भी प्रणवादिके जपको तथा मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय बतलाया है; जैसाकि उसके '**तप. स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोग.**' इस सूत्रके निम्न भाष्यसे प्रकट है:—

१. त० सू० ९-२५

२. जो जाणदि अरहत दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाण मोहो खलु जादि तस्स लयो ॥८०॥

' स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा ।'

स्वाध्यायसे ध्यान और ध्यानसे स्वाध्याय

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमाऽऽमनेत् ।
ध्यान-स्वाध्याय-सम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

'(साधकको चाहिये कि वह) 'स्वाध्यायसे ध्यानको अभ्यास-में लावे और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनोंकी सम्पत्ति-सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है—स्वानुभवमें लाया जाता है।'

व्याख्या—यहाँ स्वाध्याय और ध्यान दोनोंको एक दूसरेके अभ्यासमे सहायक बतलाया है और इसलिए एकके द्वारा दूसरेके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है। साथ ही यह सूचना भी की गई है कि दोनोंका अभ्यास परिपक्व हो जानेसे परमात्मा—परमविशुद्ध आत्मा-स्वानुभूतिका विषय बन जाता है—उसके लिये फिर किसी विशेष यत्नकी जरूरत नही रहती।

जिस स्वाध्यायके द्वारा ध्यानका अभ्यास बनता है उसकी गणना द्वादशविध तपोंमेंसे छह प्रकारके अन्तरंग तपोंमें की गई है। स्वाध्याय तपका माहात्म्य वर्णन करते हुए मूलाचार ग्रन्थमें लिखा है कि—'बाह्याभ्यन्तर बारह प्रकारके तपोनु-ष्ठानमें स्वाध्यायके समान तप न है और न होगा। स्वाध्याय-में रत साधु पांचो इन्द्रियोंको वशमें किये रहता है, मन-वचन-काय-योगके निरोधरूप त्रिगुप्तियोको अपनाता है, एकाग्र-मन और विनयसे युक्त होता है.—

बारस[1]-विहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
ण वि अत्थि ण वि य होहि सज्झायसमो(म) तवो कम्मं ॥

---

१. स बाह्याभ्यन्तरे चास्मिन्, तपसि द्वादशात्मनि ।
न भविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन समं तपः ॥—आर्ष २०-१९८

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदिसंवुडो तिगुत्तो य ।
हवदि य एकग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥
—मूला० ५-२१२,२१३

इसीसे आत्मप्रबोधमे विधिपूर्वक स्वाध्यायको, जिसमे मन ज्ञानके ग्रहण-धारणरूप, शरीर विनयसे विनियुक्त, वचन पाठाधीन और इन्द्रियोका समूह नियत एवं नियंत्रित रहता है, 'समाध्यन्तर'—कर्मक्षयकरी समाधिका एक भेद—बतलाया है। साथ ही, यह भी सूचित किया है कि ऐसे विधिपूर्वक स्वाध्यायरतके गुप्तियों-समितियोंका सहज पालन होता है और बद्धमूल हुई तीनो शल्ये—माया, मिथ्या, निदान—उखड़ जाती हैं।[१]

वास्तवमें देखा जाय तो स्वाध्याय आदि शेष तपोयोग और द्वादश अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) ये सब ध्यानके ही परिकर एवं परिवार है'; जैसाकि आर्षके निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

ततो दध्यावनुप्रेक्षा दिध्यासुर्धर्म्यमुत्तमम् ।
परिकर्ममितास्तस्य शुभा द्वादशभावनाः ॥२०-२२६॥
ध्यानस्यैव तपोयोगा. शेषाः परिकरा मताः ।
ध्यानाभ्यासे ततो यत्नः शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥२१-२१५॥

---

१. मनो बोधाऽऽधान विनय-विनियुक्त निजवपुः
वच. पाटायत्त करण-गणमाधाय नियतम्।
दधान स्वाध्याय कृतपरिणतिर्जैनवचने
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ॥५१॥
गुप्तित्रयं भवति तस्य सुगुप्तमेव शल्यत्रयीमुदखनच्च स बद्धमूला।
तस्य स्वयं समितयः समिताश्च पंच, यस्याऽऽगमे विधिवदध्ययनाऽनुबन्धः ॥५२॥

वर्तमानमें ध्यानके निषेधक अर्हन्मतानभिज्ञ हैं

येऽत्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥८२॥

'जो लोग यहाँ यह कहते हैं कि ध्याता पुरुषोंके लिये यह काल ध्यानका नहीं है वे स्वयं अपनी अर्हन्मताऽनभिज्ञता—जिन-मतसे अजानकारी—व्यक्त करते हैं।'

व्याख्या—यहाँ उन लोगोंको जिनमतसे अनभिज्ञ बतलाया है जो यह कहते हैं कि इस क्षेत्रमें वर्तमान काल धर्म्यध्यानके लिये उपयुक्त नहीं है; क्योंकि जिनमतमें ऐसा कहीं कोई निषेधात्मक विधान नहीं है, प्रत्युत इसके श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ख-पाहुडमें साफ लिखा है :—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स ।
तं अप्पसहावट्ठिये ण हु मण्णई सो दु अण्णाणी ॥७६॥

अर्थात्—इस भरतक्षेत्र तथा दुःषम पंचमकालमें ज्ञानीके धर्म्यध्यान होता है और वह आत्मस्वभावमें स्थित—आत्म-भावनामें तत्परके होता है, जो इसे नहीं मानता है वह अज्ञानी है।

इससे पूर्वकी तीन गाथाओंमें ऐसा कहने वालोंको चारित्र-मोहनीय कर्मसे अभिभूत, व्रतोसे वर्जित, समितियोंसे रहित, गुप्तियोसे विहीन, ससारसुखमें लीन और शुद्धभावसे प्रभृष्ट बतलाया है, जिनमें एक गाथा इस प्रकार है—

चरियावरिया वद-समिदि-वज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा ।
केई जंपति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

श्रीदेवसेनाचार्यने भी, तत्त्वसारमें, ऐसा कहनेवालोको 'शंका-कांक्षामें फँसे हुए, विषयोंमें आसक्त और सन्मार्गसे प्रभृष्ट बत-लाया है :—

संकाकंखागहिया विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥१४॥

शुक्लध्यानका निषेध है धर्म्यध्यानका नहीं

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां [1]प्राग्विवर्तिनाम् ॥८३॥

'यहाँ इस (पचम) कालमें जिनेन्द्रदेव शुक्लध्यानका निषेध करते हैं परन्तु दोनों श्रेणियों (उपशम और क्षपक) से पूर्ववर्तियोंके धर्म्यध्यान बतलाते हैं—इससे ध्यानमात्रका निषेध नहीं ठहरता।'

व्याख्या—यहाँ पिछले पद्यकी बातको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस कालमे जिस ध्यानका निषेध किया गया है वह शुक्लध्यान है—धर्म्यध्यान नही। धर्म्यध्यानका विधान तो आगममें उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियोंके पूर्ववर्तियोके. उस ध्यानके स्वामियोंका निरूपण करते हुए, बतलाया गया है। इससे अप्रमत्त ही नही, किन्तु अगले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसांपराय नामके तीन गुणस्थानवर्ती जीव भी धर्म्यध्यानके स्वामी हैं, ऐसा जानना चाहिये। आर्ष (महापुराण) और तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यमें भी इसका उल्लेख है; जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"श्रुतेन विकलेनाऽपि ध्याता स्यान्मुनिसत्तम.।
प्रबुद्धधीरधःश्रेण्योर्धर्म्यध्यानस्य सुश्रुतः ॥"

—आर्ष २१-१०२

"तदुभयं तत्रेति चेन्न पूर्वस्यानिष्टत्वात्। स्यादेतत्—उभयं

१. सि जु प्राक्प्रवर्तिनां।

धर्म्यं-शुक्लं चोपशान्त-क्षीणकषाययोरस्तीति ? तन्न, किं कारणम्, पूर्वस्यानिष्टत्वात्, पूर्वो हि धर्म्य-ध्यानं श्रेण्योर्नेष्यते आर्षे, पूर्वेषु चेष्यते।" तत्त्वा० वा० भा० ९-३६-१५

वज्रकायके ध्यान-विधानकी दृष्टि

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तन्निषेधकम् ॥८४॥

'उधर आगममें जो 'वज्रकायस्य ध्यानं'—वज्रकायके ध्यान होता है—ऐसा वचन-निर्देश है वह दोनों श्रेणियोंके ध्यानको लक्ष्यमें लेकर कहा गया है और इसलिए वह नीचेके गुणस्थान-वर्तियोंके लिए ध्यानका निषेधक नहीं है।'

व्याख्या—"वज्रकायस्य ध्यानम्' यह वाक्य 'आर्ष' नामक आगमग्रन्थका है, जिसमे ध्यानका लक्षण और उस कालकी उत्कृष्ट-मर्यादाका निर्देश करते हुए ध्यान-स्वामीके उल्लेखरूपमें इसे दिया है; जैसाकि उसके निम्न पद्यसे व्यक्त है:—

ऐकाग्र्येण निरोधः यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि।
तद्ध्यानं वज्रकायस्य भवेदाऽन्तर्मुहूर्ततः ॥२१-८॥

श्रेणियाँ दो हैं—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। क्षपक-श्रेणिका चढ़ना आद्यसंहनन 'वज्रवृषभनाराच' के द्वारा ही बन सकता है और उसीसे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। उपशमश्रेणिका चढ़ना तीनों प्रशस्त संहननों—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच—के द्वारा हो सकता है[1]। इसलिए वज्रकायको ध्यानका स्वामी बतलाना श्रेणियोंके ध्यानकी अपेक्षाको लिए हुए है, उनसे नीचेके चार गुणस्थानवर्तियोसे उसका सम्बन्ध नहीं है—वे वज्रकाय न होने पर भी धर्म्यध्यानके स्वामी होते हैं।

1. आद्यसंहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिश्रितः।
त्रिभिराद्यैर्भजेच्छ्रेणीमितरां श्रुततत्त्ववित् ॥ आर्ष २१-१०४।

वर्तमानमे ध्यानका युक्तिपुरस्सर समाधान

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य श्रुतसागर-पारगाः ।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥८५॥
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य सम्प्रति ।
तत्किमन्ये यथाशक्ति [1]माऽऽचरन्तु तपस्विनः ॥८६॥

'यदि आजकल श्रुतसागरके पारगामी ध्याता नहीं हैं—और इसलिये ऊँचे दर्जेका ध्यान नहीं बनता—तो क्या अल्पश्रुतोंको अपनी शक्तिके अनुसार (नीचे दर्जेका) ध्यान न करना चाहिये ? यदि इस समय यथाख्यातचारित्रके आचरिता नहीं हैं तो क्या दूसरे तपस्वी अपनी शक्तिके अनुसार (नीचे दर्जेके) चारित्रका आचरण न करें ?'

व्याख्या—जो लोग ऊँचे दर्जेके ध्यानकी बातोंसे अभिभूत हुए आजकलके समयको ध्यानका काल नहीं बतलाते उनसे यहाँ दो प्रश्न पूछे गये हैं। पहला प्रश्न यह है कि यदि आजकल श्रुत-सागरके पारगामी श्रुतकेवली जैसे ध्याता नहीं हैं तो क्या दूसरे अल्पश्रुतके धारक मुनियों आदिको अपनी सामर्थ्यके अनुसार ध्यान करना ही न चाहिये ? इसका उत्तर यदि वे विधि में देते हैं तब तो उनकी आपत्ति ही समाप्त हो जाती है और यदि उत्तर निषेधमें देते हैं अर्थात् यह प्रतिपादन करते हैं कि अल्पश्रुतको ध्यान करना ही न चाहिये तो फिर दूसरा प्रश्न यह पैदा होता है कि आजकल मोक्ष-प्राप्तिके पूर्ववर्ती यथाख्यातचारित्रका आच-रण करनेवाले भी कोई नहीं हैं तब क्या दूसरे साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार तत्पूर्ववर्ती चारित्रका अनुष्ठान न करना चाहिये ? इसका उत्तर यदि विधि में दिया जाता है तो पूर्व प्रश्न-

१. सि जु नाचरंतो ।

का उत्तर निषेधमें देनेके लिये कोई कारण नहीं रहता। और यदि इस प्रश्नका उत्तर भी निषेधमें दिया जाता है तो फिर सामायिकादि दूसरे किसीभी चारित्रका अनुष्ठान इस कालमें नहीं बनता। इस तरह सम्यक्चारित्रका ही लोप ठहरता है और सम्यक्चारित्रके लोपसे धर्मके लोपका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः जो लोग वर्तमानकालको ध्यानके सर्वथा अयोग्य बतलाते हैं उनके कथनमें कोई सार नहीं है, वे अपने इस कथन-द्वारा अर्हन्मतसे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं; जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है।

सम्यक्अभ्यासीको ध्यानके चमत्कारोंका दर्शन

सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतम्।
धारणा-सौष्ठवाद् [1]ध्यान-प्रत्ययानपि पश्यति ॥८७॥

'जो यथार्थगुरुके उपदेशसे निरन्तर (ध्यानका) अभ्यास करता है वह धारणाके सौष्ठवसे—अपनी सम्यक् और सुदृढ अवधारण-शक्तिके बलसे—ध्यानके प्रत्ययोंको भी देखता है—लोकचमत्कारी ज्ञानादिके अतिशयोंको[2] भी प्राप्त होता है।'

व्याख्या—जिन लोगोंको ऐसा खयाल है कि ध्यानका कोई चमत्कार आजकल देखनेमें नहीं आता, इसलिए ध्यान करना निरर्थक है, उन्हें इस पद्यमें ध्यानके चमत्कारोंका आश्वासन दिया गया है और यह बतलाया गया है कि जो ध्याता यथार्थगुरुके उपदेशको पाकर उसके अनुसार निरन्तर भले प्रकार ध्यानका

१ मु ध्यानं प्रत्ययानपि।

२. प० आशाधरजीने इष्टोपदेशके ४०वें पद्यकी टीकामें 'ध्यानादि लोकचमत्कारिणः प्रत्ययाः स्युः' ऐसा लिखकर प्रमाणमें 'तथा चोक्तं' वाक्यके साथ इस ग्रन्थके उक्त पद्यको उद्धृत किया है, जिससे 'ध्यान-प्रत्ययान्' पदका स्पष्ट आशय ध्यानके चमत्कारों तथा अतिशयोंसे जान पड़ता है।

अभ्यास करता है उसकी ध्यान-विषयक धारणाएँ जब सम्यक् और सुदृढ हो जाती हैं तब वह ध्यानके चमत्कारों-ज्ञानादिविषयक अतिशयोंको भी प्राप्त होता है। अतः निराश होनेकी कोई बात नहीं है। सम्यग्गुरुसे ध्यानविषयक उपदेशकी प्राप्ति करके उसके अनुसार निरन्तर ध्यानके अभ्यासकी क्षमताको बढ़ाना चाहिए। सम्यग्गुरुमें साक्षात् और परोक्ष दोनों प्रकारके गुरु शामिल हैं, साक्षात् गुरु वह जो ध्यानकी कला एवं विधि-व्यवस्थासे भली प्रकार अवगत तथा अभ्यास-द्वारा उसे जीवनमें उतारे हुए हो और जिज्ञासुको उसके देनेमें उदार, निस्पृह एव निष्कपट हो। परोक्ष गुरु वह जिसने ध्यान-विषयक अपने अनुभवोंको पूर्व-गुरु-वाक्योंके साथ अथवा उनके विना ही श्रुत-निबद्ध किया हो।

यहाँ 'धारणा-सौष्ठवात्' पदमे प्रयुक्त 'धारणा' शब्दका अभिप्राय उन मारुती, तैजसी और आप्या नामकी धारणाओंसे है जिनका उल्लेख आगे ग्रन्थके १८३वें पद्यमें किया गया है और जिनके स्वरूपकी अतीव सक्षिप्त एव रहस्यमय सूचना उससे आगे-के कुछ पद्योंमें दी गई है। श्रुतनिर्दिष्ट बीजो (बीजमन्त्रो) के अवधारण (ससाधन) को भी धारणा कहते हैं[1]। इस अर्थको दृष्टिसे अग्रोल्लिखित बीजमन्त्रोंकी भले प्रकार सिद्धिसे ध्यानके प्रत्ययों–चमत्कारोंका दर्शन होता है, ऐसा आशय निकलता है।

अभ्याससे दुर्गम-शास्त्रोंके समान ध्यानकी भी सिद्धि

[2]यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि[3]।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥८८॥

---

१. धारणा श्रुतनिर्दिष्ट-बीजानामवधारणम्। (आर्ष २१-२२७)

२. अभ्यस्यमान बहुधा स्थिरत्व यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम्।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकामः॥
—अमितगत्युपासकाचार १०-१११

३. ब महन्त्यपि।

'जिस प्रकार अभ्याससे महाशास्त्र भी स्थिर-सुनिश्चित हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यासियोंका ध्यान भी स्थिरताको— एकाग्रता अथवा सिद्धिको—प्राप्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके अभ्यासियोंको ध्यानसिद्धिका आश्वासन देते हुए ध्यानके अभ्यासको बराबर बढ़ाते रहनेकी प्रेरणा की गई है और शास्त्राभ्यासके उदाहरण-द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार बड़े-बड़े कठिन शास्त्र भी, जो प्रारम्भमें बड़े ही दुर्गम तथा दुर्बोध मालूम होते हैं, बरावर पढ़ने तथा मनन करनेके अभ्यास-द्वारा सुगम तथा सुखबोध हो जाते हैं, उसी प्रकार सतत अभ्यासके द्वारा ध्यान भी, जो पहले कुछ डांवाडोल रहता है, स्थिरताको प्राप्त हो जाता है; और यह स्थिरता ही ध्यानके चमत्कारोंको प्रकट करनेमें समर्थ होती है। सच है 'करत करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान। रसरी आवत-जात-तें सिल पर पड़त निशान ॥' अतः ध्यानके अभ्यास-में ज़रा भी शिथिल तथा हतोत्साह न होना चाहिये, श्रद्धाके साथ उसे बराबर आगे बढ़ाते रहना चाहिये।

ध्याताको परिकर्मपूर्वक ध्यानकी प्रेरणा

यथोक्त-लक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यदा[1] ।
तदेवं[2] परिकर्मादौ[3] कृत्वा ध्यायतु धीरधीः ॥८६॥

'यथोक्त लक्षणसे युक्त ध्याता जब ध्यान करनेके लिए उत्साहित होता है तब वह धीरबुद्धि प्रारम्भमें इस (आगे लिखे) परिकर्मको—संस्कार अथवा उपकरण-सामग्रीके सज्जीकरणको—**करके ध्यान करे**—इससे उसको ध्यानमें स्थिरता एवं सिद्धिकी **प्राप्ति हो सकेगी।'**

---

१. मु यथा। २. मु तदेव; मे तदैवं; सि जु तदेतद्। ३. सि परिकर्मादीन्।

व्याख्या—यहाँ ध्यानके लिए उत्साहित यथोक्तलक्षण ध्याता-को प्रारम्भमें कुछ परिकर्म करनेको—साधक कारणोंको जुटाने तथा बाधक कारणोको हटानेकी—प्रेरणा की गई है, जिसका रूप अगले छह पद्योंमें दिया है। यह परिकर्म एक प्रकारकी ध्यानकी तैयारी अथवा सस्कृति है, जिससे अपनेको यथासाध्य सस्कारित एव सुसज्जित करना ध्याताका पहला कर्तव्य है।

विवक्षित परिकर्मका स्वरूप

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि ।
स्त्री-पशु-क्लीव-जीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे[1] ॥९०॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे ।
चेतनाऽचेतनाऽशेष-ध्यानविघ्न-विवर्जिते ॥९१॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखाऽऽसीनः स्थितोऽथवा ।
सममृज्वायतं गात्रं निःकम्पाऽवयवं दधत्[2] ॥९२॥
नासाऽग्रन्यस्त-निष्पन्द-लोचनो मन्दमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोष-निर्मुक्त-कायोत्सर्ग-व्यवस्थितः[4] ॥९३॥

---

१. स्त्रीपशुक्लीवसंसक्तरहितं विजनं मुनेः ।
सर्वदैवोचितं स्थानं ध्यानकाले विशेषतः ॥ (आर्ष २१-७७)
निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसील-वज्जियं जइणो ।
ठाणं वियणं भणियं विसेसओ झाण-कालम्मि ॥
—ध्यानशतक ३५

२. सममृज्वायतं बिभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकम् ॥ (आर्ष २१-६०)

३. नात्युन्मिषन्न चात्यन्तं निमिषन्मन्दमुच्छ्वसन् ॥ (आर्ष २१-६२)

४. पर्यंक इव दिध्यासोः कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः ।
समप्रयुक्तसर्वाङ्गो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः ॥ (आर्ष २१-६९)

'प्रत्याहृत्याऽक्ष-लुंटाकांस्तदर्थेभ्यः प्रयत्नतः ।
चिन्तां चाऽऽकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येय-वस्तुनि ॥९४॥
निरस्त-निद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरम् ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदन्तर्विशुद्धये ॥९५॥

'जहाँ स्त्रियों, पशुओं, नपुंसक जीवों तथा क्षुद्र-मनुष्यों आदिका भी सचार न हो ऐसे शून्यागार (खाली पड़े घर) में या गुफामें अथवा अन्य किसी ऐसे स्थानमें जो अच्छा साफ हो, जीव-जन्तुओंसे रहित प्रासुक-पवित्र हो, ऊँचा-नीचा न होकर समस्थल हो और चेतन-अचेतनरूप सभी ध्यानविघ्नोंसे विवर्जित हो, दिनको अथवा रात्रिके समय, भूमि पर अथवा शिलापट्ट पर सुखासनसे बैठा हुआ या खड़ा हुआ, निश्चल अंगोंका धारक सम और सरल लम्बे शरीरको लिए हुए, नाकके अग्रभागमें दृष्टिको निश्चल किए हुए, धीरे-धीरे श्वास लेता हुआ, बत्तीस दोषोंसे रहित कायोत्सर्गसे व्यवस्थित हुआ, इन्द्रियोंरूप लुटेरोंको उनके विषयोंसे प्रयत्नपूर्वक हटाकर और सर्वविषयोंसे चिन्ताको खींचकर तथा ध्येयवस्तुमें रोककर निद्रारहित, निर्भय और निरालस्य हुआ ध्याता अन्तर्विशुद्धिके लिए स्वरूप अथवा पररूपको ध्यावे।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें ध्यानके लिए जिस परिकर्मकी आवश्यकता व्यक्त की गई है उसका कुछ संक्षिप्तरूप इन पद्योंमें दिया गया है। ध्यानके लिए देश, काल, अवस्थादिको ठीक करनेकी जरूरत होती है उनमेसे देशके विषयमे यहाँ यह सूचित किया गया है कि वह या तो ऐसा शून्यागार (सूना मकान) तथा गुफा हो जिसमें स्त्री-पशु-नपुंसक-जीवोंका तथा क्षुद्र-पुरुषोंका

१. हृषीकानि तदर्थेभ्यः प्रत्याहृत्य ततो मनः ।
संहृत्य नियमव्यग्रं धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥ (आर्ष २१-१०६)

आवागमन न हो और या कोई दूसरा ऐसा प्रदेश हो जो प्रशस्त, प्रासुक, पवित्र तथा मरुभूमिको लिए हुए हो और उन सभी चेतन-अचेतन पदार्थोंसे रहित हो जो ध्यानमें विघ्नकारक हों। इन स्थानोंमें बैठकर या खड़े होकर ध्यान करनेके लिए भूतल तथा शिलापट्टको उपयुक्त बतलाया है। भूतलमें उपलक्षणसे ईंट चूने आदिका फ़र्श और शिलापट्टमें काष्ठपट्ट-चौकी-चटाई आदि शामिल हैं। कालके विषयमें कोई विशेष सूचना नही की, केवल इतना ही लिख दिया कि वह दिनका हो या रातका, और इसलिए वह जिस समय भी बन सके अपनी ध्यान-परिणतिके अनुरूप चुना जाना चाहिए[1]। अवस्थाके विषयमें यह सूचित किया गया है कि वह बैठकर तथा खड़ा होकर दोनों अवस्थाओंसे किया जाता है[2]। दोनों प्रमुख अवस्थाओंमें आसन सुखासन, शरीरके अंगोंका अकम्पन, दृष्टिका नासिकाके अग्र-

---

१. ध्यानशतककी निम्न गाथामें स्पष्ट लिखा है कि ध्यान करनेवालोंको दिन-रातकी वेलाओंका कोई नियम नही है, जिस समय भी योगोंका उत्तम समाधान बन सके वही काल ग्रहण किये जानेके योग्य है:—

"कालो वि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
ण उ दिवस णिसा वेलाइणियमणं झाइणो भणियं ॥३८॥

२. श्रीजिनसेनाचार्यके आर्षग्रन्थमें और श्रीजिनभद्र-नामाङ्कित ध्यानशतकमें देहकी उस सब अवस्थाको जो ध्यानकी विरोधिनी नहीं है ध्यानके लिए ग्रहण किया है, चाहे वह खड़े, बैठे या लेटे रूपमें हो:—

"देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानविरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत्स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा ॥आर्ष २१-७५॥

"जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोपरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ णिसण्णो णिवण्णो वा" ॥ध्यानश० ३९॥

भाग पर अवस्थान, नयनोंका अचंचलपना और श्वासोच्छ्वासका सचार मन्द-मन्द होना चाहिए।

सुखासनके विषयमें यहाँ कोई खास सूचना नहीं की गई। इस विषयमें भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने आर्षग्रन्थ महापुराणके २१ वें पर्वमें सुखासनकी आवश्यकता व्यक्त करते हुए यह सूचित किया है कि पर्यङ्कासन (पल्यङ्कासन) और कायोत्सर्ग दोनों सुखासन हैं। इनसे भिन्न दूसरे आसन विषम आसन हैं[१]। साथ ही पर्यङ्कासनका स्वरूप यह दिया है कि 'अपने पर्यङ्कमें बाएँ हाथको और इसके ऊपर दाहिने हाथको इस तरह रक्खा जाय कि जिससे दोनों हाथोंकी हथेलियाँ ऊपरकी ओर (उत्तानतल) हो'[२]। पैरोंके विन्यासका कोई नियम नही दिया अथवा ग्रन्थप्रतिमें छूट गया जान पडता है, जो कि होता अवश्य है ; जैसा कि पं० आशाधर-जी-द्वारा अनगारधर्मामृतकी टीकामें उद्धृत तीन पुरातन पद्योंसे जाना जाता है, जिनमेंसे एक पद्य इस प्रकार है —

स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।
पर्यंको नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तरपाणिकः ॥

यह पद्य योगशास्त्रके चौथे प्रकाशका १२५ वां पद्य है। इसमें नाभिसे मिली हाथोंकी उपर्युक्त स्थितिके साथ एक पैरको जंघा (पिंडली) के नीचे और दूसरेको जंघाके ऊपर रखनेकी सूचना की गई है।

---

१. वैमनस्ये च किं ध्यायेत्तस्मादिष्टं सुखासनम्।
कायोत्सर्गश्च पर्यंकस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥२१-७१॥
तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः ॥
प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमामनन्ति सुखासनम् ॥२१-७२॥

२. स्वपर्यंके करं वामं न्यस्तोत्तानतलं पुनः।
तस्योपरीतरं पाणिमपि विन्यस्य तत्समम् ॥आर्ष २१-६१॥

कायोत्सर्गको ३२ दोषोंसे रहित बतलाया है, जिनका स्वरूप मूलाचार, अनगारधर्मामृतादि दूसरे ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है।

इन्द्रिय-लुटेरे अनादि अविद्याके वश बिना किसी विशेष प्रयत्नके स्वतः विषयोंकी ओर प्रवृत्त होते हैं। अतः उन्हें प्रयत्न-पूर्वक अपने विषयोंसे हटाकर और चिन्ताको अन्य सब ओरसे खींचकर ध्येय-वस्तुकी ओर लगानेकी इस परिकर्ममें विशेष प्रेरणा की गई है। साथ ही यह भी प्रेरणा की गई है कि ध्याताको निद्रारहित, भयरहित और आलस्यरहित होकर आत्म-विशुद्धिके लिये स्वरूप तथा पररूपका ध्यान करना चाहिए। पररूपमे मुख्यतः पंचपरमेष्ठिका ध्यान समाविष्ट है, जिसका ग्रन्थमें अन्यत्र (पद्य ११९ में) निर्देश है। निद्रा, भय और आलस्य तीनों ध्यानकी सिद्धिमें प्रबल बाधक हैं अतः सतत अभ्यासके द्वारा इनको जीतनेका पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिये।

परिकर्ममें और भी कितनी ही बातें शामिल होती हैं, जिनमे कुछका समावेश ध्याताके स्वरूप-वर्णनमे आचुका है।

यहाँ सुखासन-विषयक विशेष जानकारीके लिए यशस्तिलकके 'ध्यानविधि' नामक ३९ वें कल्पके निम्न पद्योंको ध्यानमें लेनेकी जरूरत है:—

संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्म-वीर-सुखासनम्॥

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—

गुल्फोत्तान-कराङ्गुष्ठ-रेखा-रोमालि-नासिका।
समदृष्टिः समाः कुर्यान्नाऽतिस्तब्धो न वामनः॥
तालत्रिभाग-मध्याङ्घ्रिः स्थिर-दीर्घ-शिरोधरः।
सम-निष्पन्नपार्ष्ण्यंस-जानु-भ्रू-हस्त-लोचनः॥

न खात्कृतिर्न कण्डूतिर्नोष्ठभक्तिर्न कम्पितिः ।
न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरन्दोलितिः स्मितिः ॥
न कुर्याद्दूरदृक्पातं नैव केकरवीक्षणम् ।
न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥

इनमेंसे पहले पद्यमें पद्मासन, वीरासन ओर सुखासनका सामान्य-रूप दिया है—समगुल्फ-स्थितिमें स्थित दोनों पदों (पैरों) को ऊरुवों (सक्थियों thighs) के नीचे रखनेसे पद्मासन, ऊपर रखनेसे वीरासन और एक (वाम) पदको ऊरुके नीचे तथा दूसरे (दक्षिण) पदको ऊरुके ऊपर रखनेसे सुखासन बनता है।

उक्त आसनोमें सुखासनका लक्षण यह है, ऐसा सूचित करते हुए उत्तरवर्ती पद्योंमें उसका जो विशेष-रूप दिया है वह इस प्रकार है:—

'गुल्फों–पैरोंके टखनोंके ऊपर हथेलियाँ ऊर्ध्वमुख किये बाएँके ऊपर दाहिनेके रूपमें रक्खे हुए दोनों हाथोंके अंगूठोंकी रेखाएँ, नाभिके ऊपरको रोमालि और नासिका ये सम की जानी चाहियें—विषम स्थितिमे न रहे—, दृष्टि भी सम होनी चाहिये—इधर-उधरको फिरी हुई नहीं; और शरीरको न तो अधिक तानकर रक्खा जाय और न आगेको या इधर-उधर झुका कर वामनरूपमें ही रक्खा जाय। दोनों पैरोके मध्यमें—एक पैरकी एड़ीसे दूसरे पैरकी एड़ीके बीचमें—चार अंगुलका अन्तराल रहे; शिर और ग्रीवा स्थिर रहें—इधर-उधरको डोलें नहीं; एड़ियोंके अग्रभाग, घुटने, भोंहें, हाथ और नेत्र सम तथा निश्चल रहें। खंखारना, खुजाना, होठोंको चलाना, कांपना, अंगुलि-पर्वोंपर गिनती करना, बोलना, शरीरका इधर-उधर डुलाना और मुस्कराना ये कार्य न किये जांय। इसी तरह दूर दृष्टिपात करना—दूरवर्ती वस्तुको देखना, तिरछी नजरसे देखना,

बार-बार पलक झपकना, ये सब भी न होकर नाकके अग्रभाग पर दृष्टि रखकर तिष्ठना चाहिये।'

यहाँ इतना और भी जान लेना चाहिये कि यशस्तिलकके उक्त पहले पद्यमे सुखासनका जो सामान्य रूप दिया है वह अन्यत्र (योगशास्त्र, अमितगति-श्रावकाचार[1] आदि ग्रन्थोमें) वर्णित पर्यङ्कासनके रूपसे मिलता-जुलता है। भेद इतना ही है कि अन्यत्र पदोंको जघाओके नीचे-ऊपर (एक पदको नीचे दूसरेको ऊपर) रखनेकी व्यवस्था है। तब यशस्तिलककर्ता सोमदेवाचार्यने उन्हे ऊर्वो (Thighs) के नीचे-ऊपर रखनेकी सूचना की है, और यह एक प्रकारका साधारणसा मतभेद है। इस मतभेदके साथ सोमदेवजीके सुखासनको पर्यङ्कासन ही समझना चाहिये, जिसे श्रीजिनसेनाचार्यने अधिक सुखासन बतलाया है। सुखासनके जो विशेष लक्षण यशस्तिलकमें दिये गये हैं वे प्रायः दूसरे पद्मासनादिकसे भी सम्बन्ध रखते हैं; उन्हें सुखासनके साथ दिये जानेका अभिप्राय इतना ही जान पड़ता है कि सुखासनको कोई यों ही ऊरुके नीचे-ऊपर पैरोको रखकर जैसे-तैसे सुखपूर्वक बैठ जानेका नाम ही न समझले। उसे ध्यानासनको दृष्टिसे ध्यानविधि-परक कुछ अन्य बातोंको भी ध्यानमें रखना होगा।

नय-दृष्टिसे ध्यानके दो भेद

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे।
स्वरूपालम्बनं पूर्वं परालम्बनमुत्तरम् ॥९६॥

'जैन आगममें ध्यानको निश्चयनय और व्यवहारनयके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है—पहला निश्चयध्यान स्वरूपके अवल-

१. अमितगतिश्रावकाचारका पर्यंकासन-लक्षण—
बुधैरुपर्यधोभागे जंघयोरुभयोरपि।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यंकासनमासनम् ॥८-४६॥

स्वरूप है और दूसरा व्यवहारध्यान परके अवलम्बनरूप है।

व्याख्या—यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंकी दृष्टि ध्यानके आगमानुसार दो भेद करके एकको स्वरूपावलम्बी औ दूसरेको परावलम्बी बतलाया है। स्वरूपावलम्बी ध्यानमें आत्म के शुद्धस्वरूपके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ध्यानका विषय नह रहती, जब कि परावलम्बी ध्यानमें दूसरी वस्तुओंका अवलम्ब लिया जाता है—उन्हें ध्यानका विषय (ध्येय) बनाया जाता है निश्चयनयका स्वरूप ही 'अभिन्नकर्तृ-कर्मादि-विषयक' है औ इसलिये उसमें किसी दूसरेका अवलम्बन लिया ही नहीं ज सकता—ध्याता भिन्न, ध्येय भिन्न और करणादिक भिन्न हो, ऐस उसमें कुछ भी नहीं बनता—और इसीलिये उसे निरालम्ब तथ दूसरेको सालम्ब ध्यान भी कहा जाता है; जैसाकि श्रीपद्मसिं मुनिके ज्ञानसारगत निम्न वाक्यसे भी जाना जाता है—

किं बहुणा सालंब झाणं परमत्थणाएण णाऊणं।
परिहरह कुणह पच्छा झाणब्भासं निरालंबं॥३७॥

इसमें पूर्वसे किये जाने वाले व्यवहारनयाश्रित सालम्बध्यान को छोड़ कर निरालम्ब-ध्यानके अभ्यासकी प्रेरणा की गई है, औ इससे दोनों ध्यानोंके अभ्यासका क्रम भी स्पष्ट हो जाता है।

निश्चयकी अभिन्न, व्यवहारकी भिन्न सज्ञा और
भिन्न ध्यानाभ्यासकी उपयोगिता

अभिन्नमाद्यमन्यत्तु भिन्नं तत्तावदुच्यते।
भिन्ने तु[1] विहिताऽभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः॥९७

'अथवा पहला निश्चयनयावलम्बी ध्यान 'अभिन्न' और दूसर व्यवहारनयावलम्बी ध्यान 'भिन्न' कहा जाता है। जो 'भिन्न' ध्यानमें अभ्यास कर लेता है वह निराकुल हुआ 'अभिन्न' ध्यान-को ध्यानेमें प्रवृत्त होता है।'

१. मु मे भिन्ने हि।

व्याख्या—निश्चयनयाश्रित स्वावलम्बी-ध्यानको अभिन्नध्यान और व्यवहारनयाश्रित परावलम्बी-ध्यानको 'भिन्नध्यान कहते हैं। भिन्नध्यानमें जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब अभिन्नका ध्यान निराकुलतापूर्वक ठीक बनता है। इसी बातको 'आत्म-प्रबोध' ग्रन्थमें **"सालम्बनाऽभ्यासनिबद्धलक्ष्यो भवेन्निरालम्बनयोगयोग्यः"** इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट किया है। अतः पहले आत्म-स्वरूपसे भिन्न अन्य वस्तुओंके ध्यानको परिपुष्ट बनाना चाहिये, जिससे अभ्यासी चाहे जिसके चित्रको अपने हृदय-पटल पर अंकित करसके और उसे अधिकसे अधिक समय तक स्थिर रखनेमें समर्थ हो सके। इस प्रकारका अभ्यास बढ़ जानेपर आत्मध्यानरूप जो अभिन्नध्यान है वह बिना किसी आकुलताके सहज ही बन सकेगा। जो ध्याता भिन्नध्यानके अभ्यासमें परिपक्व हुए विना एकदम आत्मध्यानमें प्रवृत्त होता है वह प्रायः अनेक आकुलताओं तथा आपदाओंका शिकार बनता है। अतः ध्यानका राजमार्ग यही है कि पहले व्यवहारनयाश्रित भिन्न (सालम्बन) ध्यानके अभ्यासको बढ़ाया जाय। तत्पश्चात् निश्चयनयाश्रित अभिन्न (निरा-लम्बन) ध्यानके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध-स्वरूपमें लीन हुआ जाय। भिन्नध्यानमें परमात्माका ध्यान सर्वोपरि मुख्य है, जिसके सकल और निष्कल ऐसे दो भेद हैं—सकल-परमात्मा अरहंत और निष्कल-परमात्मा सिद्ध कहलाते हैं[१]।

भिन्नरूप धर्म्यध्यानके चार ध्येयोंकी सूचना

आज्ञाऽपायौ[२] विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च।
यथागममविक्षिप्त-चेतसा चिन्तयेन्मुनिः ॥९८॥

१. दुविहो [illegible]रमप्पा सयलो तह णिक्कलो त्ति णायव्वो।
सकलो अरह[illegible]वो सिद्धो पुण णिक्कलो भणिओ ॥३२॥
—ज्ञानसार

२. मु मे आज्ञापायौ।

'(भिन्नरूप व्यवहार-ध्यानमें) मुनि आज्ञा, अपाय, विपाक और लोक-संस्थानका आगमके अनुसार चित्तकी एकाग्रताके साथ चिन्तन करे।'

व्याख्या—यहाँ भिन्नध्यानके विषयभूत आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और लोकसस्थानविचय नामक धर्म्यध्यानके चार भेदो[1] की सूचना करते हुए उनके आगमानुसार स्वरूप-चिन्तनकी प्रेरणा को गई है। यद्यपि यह प्रेरणा मुख्यतः मुनियोको लक्ष्य करके की गई है परन्तु गौणत. देशव्रतो श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि भी उसके लक्ष्यभूत है, जो धर्म्यध्यानके अधिकारी है।

धर्म्यध्यानके जिन प्रकारोंका उल्लेख पद्य ५१ से ५५ तक किया गया है उनसे भिन्न ये चार भेद आगम-परम्पराके अनुसार कहे गये हैं, जिसे 'आम्नाय' भी कहते हैं[2]। और इसलिये इनका अनुष्ठान जैन आम्नायके अनुसार ही होना चाहिये, जिसके लिये '**यथागमं**' वाक्यका प्रयोग यहाँ खास तौरसे किया गया है।

धर्म्यध्यानके ध्येय-दृष्टिसे प्रकल्पित हुए इन चार भेदोंमें प्रथम-भेदगत 'आज्ञा' शब्द सर्वज्ञ-वीतराग-जिन-प्रणीत आगमके उस आदेश एव निर्देशका वाचक है जिसका विषय सूक्ष्म है, प्रत्यक्ष तथा अनुमान-प्रमाणके गोचर नही और किसी भी युक्तिसे बाधित नहीं होता; जैसे धर्मास्तिकायादि द्रव्योंका कथन। ऐसे आज्ञाग्राह्य-विषयोंका जो विचार, विचय, विवेक अथवा संचिन्तन है उसे

---

१. आज्ञा-पाय-विपाक-सस्थानविचयाय (स्मृतिसमन्वाहारः) धर्म्यम्।
(त० सू० ९-३६)

२. तदाज्ञापाय-संस्थान-विपाक-विचयात्मकम्।
चतुर्विकल्पमाम्नात ध्यानमाम्नायवेदिभिः ॥ (आर्ष २१-१३४)

आज्ञाविचय-धर्म्यध्यान कहते हैं[१]। द्वितीयभेदगत 'अपाय' श
तापत्रयादिरूप उन दुःखो-कष्टो तथा भयादिकका, जिनसे सांस
रिक प्राणी पीड़ित है, और उनसे छूटनेके प्रतीकारात्मक अथ
कल्याणात्मक उपायोका वाचक है। ऐसे सोपाय अपायका
विवेचन अथवा सचिन्तन है उसे अपायविचय-धर्म्यध्यान क
हैं। तृतीयभेदगत 'विपाक' शब्द शुभ-अशुभ कर्मोंके फल
वाचक है। इस कर्मफलके चिन्तनका नाम विपाकविच
है, जिसमें ज्ञानावरणादि-कर्मोंको मूलोत्तर-प्रकृतियाँ, उन
बन्ध-उदय-सत्व-उदीरणा-सक्रमण और मोक्षादि सब
चिन्तन आजाता है। चतुर्थभेद तीनों लोकके आका
प्रकारादिके सचिन्तनरूप है, जिसमें तदन्तर्गत पदार्थोंका चिन्त
और द्वादशानुप्रेक्षाका चिन्तन भी शामिल है। इन चा
ध्यानोका विशेष जाननेके लिये मूलाचार, आर्षादि आगमग्रन्थो
और तत्त्वार्थसूत्रको तत्त्वार्थराजवार्तिकादि[३] टीकाओंको देख
चाहिये।

---

१. आत्मप्रबोधके निम्न दो पद्योमे इस आज्ञाविचय-धर्म्यध्यान
अच्छा सार खींचा गया हैः—

सत्तैका द्विविधो नयः शिवपथस्त्रेधा चतुर्धा गतिः
कायाः पंच षडगिना च निचयाः सा सप्तभंगीति च।
अष्टौ सिद्धगुणाः पदार्थनवकं धर्मं दशांग जिनः
प्राहैकादशदेशसयतदशाः सद्द्वादशांगं तपः ॥८९॥
सम्यक्प्रेक्षा चक्षुषा वीक्ष्यमाणो यद्यादृक्ष सर्ववेद्याचचक्षे।
तत्तादृक्ष चिन्तयन्वस्तु यायादाज्ञाधर्म्यध्यानमुद्रां मुनीन्द्रः ॥९०

२. मूलाचार अ० ५, २०१-२०५। आर्ष २१,१३४-१५१

३. तत्त्वार्थवा० अ० ९, सू० ३८-४४।

ध्येयके नाम-स्थापनादिरूप चार भेद

नाम च स्थापना[1] द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम् ।
समस्तं व्यस्तमप्येतद् ध्येयमध्यात्म-वेदिभिः ॥६६॥

'अध्यात्म-वेत्ताओंके द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-रूप चार प्रकारका ध्येय समस्त तथा व्यस्त दोनों रूपसे ध्यान-के योग्य माना गया है।'

व्याख्या—यहाँ ध्येय-वस्तुओंको चार भेदोंमें विभक्त किया गया है—१ नाम-ध्येय, २ स्थापना-ध्येय, ३ द्रव्य-ध्येय, ४ भाव-ध्येय-और यह सूचना की गई है कि आत्मज्ञानी इन सभीको अथवा इनमेसे चाहे जिसको अपनी इच्छानुसार ध्येय बना सकता है। इन चारोके लक्षण तथा स्वरूपादिका निर्देश आगे किया गया है।

नाम-स्थापनादि ध्येयोंका संक्षिप्त-रूप

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।
गुण-पर्ययवद्द्रव्यं[2] भावः स्याद्गुण-पर्ययौ ॥१००॥

'वाच्यका जो वाचक वह 'नाम' है; प्रतिमा 'स्थापना' मानी गई है; गुण-पर्यायवान्को 'द्रव्य' कहते हैं और गुण तथा पर्याय दोनों 'भाव' रूप है।'

व्याख्या—इस पद्यमें पूर्व पद्योल्लिखित चारों ध्येयोंका संक्षिप्त-स्वरूप दिया है। वाच्यका वाचक शब्द होता है। अतः संज्ञा शब्दको यहाँ नामध्येय कहा गया है। प्रतिमाका अभि-प्राय प्रतिबिम्बसे है—चाहे वह कृत्रिम हो या अकृत्रिम—और इसलिये स्थापनाध्येय यहाँ तदाकार-स्थापनाके रूपमें गृहीत है—अतदाकार स्थापनाके रूपमें नहीं। द्रव्यका जो लक्षण गुण-

१. मु मे स्थापनं । २. त० सू० ५-३८

पर्यायवान् तत्त्वार्थसूत्रसम्मत है उसीको द्रव्यध्येयके रूपमें यहाँ ग्रहण किया गया है और भावध्येयमें गुण तथा पर्याय दोनों-को लिया गया है।

नामध्येयका निरूपण

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्य तिष्ठति।
हृदि ज्योतिष्मदुद्गच्छन्नामध्येय तदर्हताम्[1] ॥१०१॥

'अपने आदि, मध्य और अन्तमें (प्रयुक्त अ-र्-ह् अक्षरों-द्वारा) जो वाङ्मयको—वाणी वा वर्णमालाको—व्याप्त होकर तिष्ठता है वह अर्हन्तोंका वाचक 'अर्हं' पद है, जो कि हृदयमें ऊँची उठती हुई ज्योतिके रूपमें नामध्येय है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हन्तोके वाचक 'अर्हं' मंत्रको नामध्येय बतलाया गया है, जिसके आदिमें वाङ्मय अथवा वर्णमालाका आदि अक्षर 'अ', मध्यमें मध्याक्षर 'र्' और अन्तमें अन्ताक्षर 'ह्' है और इस तरह जो सारे वाङ्मयको अपनेमें व्याप्त कर 'अक्षर-ब्रह्म'के रूपमे स्थित हुआ परब्रह्म अर्हत्परमेष्ठिका वाचक है। इसे अन्यत्र 'सिद्धचक्रका सद्बीज' भी बतलाया गया है, जैसा कि निम्न प्रसिद्ध श्लोकसे प्रकट है:—

अर्हमित्यक्षरब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहम् ॥

इस अक्षरब्रह्मको, जिसे शब्दब्रह्म भी कहते हैं, ऊँची उठती हुई ज्योतिके रूपमें ध्यानका विषय बनाना चाहिये। इसके ध्यान-का स्थान हृदय-स्थल है।

सिद्धचक्रका बीज होनेसे श्रीजिनसेनाचार्यने इसे परमबीज लिखा है :—

---

१. सि जु तदर्हंत.।

अकारादि-हकारान्त-रेफमध्यान्तबिन्दुकं ।
ध्यायन् परमिदं बीजं मुक्त्यर्थी नाऽवसीदति ।।
—आर्ष २१-२३१

'अर्हं' इस परब्रह्मके वाचक अक्षरब्रह्ममें 'अ' अक्षर साक्षात् अमृतमय मूर्तिके रूपमे स्थित सुखका कर्ता है, स्फुरायमान रेफ (ं) अक्षर अविकल रत्नत्रयरूप है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्रतिमूर्ति है और 'ह' अक्षर मोहसहित सारे पापसमूहके हताका रूप धारण किये हुए है। इस तरह अभिन्नाक्षर पदके रूपमें यह बोजाक्षर स्मरणीय है। इस पदके 'अ' और 'ह' अक्षरोंके मध्यमे वर्णमालाके शेष सब अक्षर वास करते हैं और इसीसे मुनियोने इसे अनघ शब्दब्रह्मात्मक बतलाया है। यह उज्ज्वल बिन्दुको धारण किये हुए 'अर्धचन्द्र' कलासे युक्त और रेफसे व्याप्त सकिरण ज्योतिः पद परंब्रह्मके ध्यानको ध्वनित करता है—सिद्ध परमात्माके ध्यानकी अनुभूति कराता है। जैसा कि श्रीकुमारकविके निम्न वाक्योसे प्रकट है.—

अकारोऽय साक्षादमृतमयमूर्तिः सुखयति ।
स्फुरद्रेफो रत्नत्रयमविकलं संकलयति ।
समोहं हंकारो दुरितनिवहं हंति सहसा ।
स्मरेदेवं बीजाक्षर [पद] मभिन्नाक्षरपदम् ।।११८।।
वसति वसति मध्ये वर्णा अकार-हकारयो-
रिति यदनघं शब्दब्रह्मास्पद मुनयो जगुः ।
यदमृतकलां बिभ्रद्बिन्दूज्वलां रचितार्चिषं
ध्वनयति परंब्रह्म ध्यानं तदस्तु पदं मुदे ।।११९।।
—आत्मप्रबोध

हृत्पंकजे चतुष्पत्रे ज्योतिष्मन्ति प्रदक्षिणम् ।
अ-सि-आ-उ-साऽक्षराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ।।१०२।।

'चार पत्रोंवाले हृदय-कमलमें पंचपरमेष्ठियोंके वाचक अ, सि, आ, उ, सा ये पाँच अक्षर ज्योतिष्मान् रूपमें (कमलपत्रादिक पर) प्रदक्षिणा करते हुए ध्यान किये जानेके योग्य हैं।'

व्याख्या—जिन पाँच अक्षरो अ, सि, आ, उ, सा को यहाँ ध्येय बतलाया है वे क्रमशः अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीके वाचक, उनके आद्याक्षररूप, नाम हैं। इनका ध्यान हृदयमे चार पत्रोवाले कमलकी कल्पना करके किया जाता है। कमलकी कर्णिका पर 'अ' अक्षरको, सम्मुखवाले पत्र पर 'सि' की, दक्षिणपत्र पर 'आ' की, पश्चिमपत्र पर 'उ' की और उत्तराभिमुखीपत्र पर 'सा' अक्षरकी स्थापना की जाती है। पाँचो अक्षर ज्योतिष्मान् हैं, उनसे ज्योति छिटक रही है और वे अपने स्थानों पर प्रदक्षिणा करते हुए घूम रहे हैं, ऐसा चिन्तन किया जाना चाहिए।

ध्यायेद-इ-उ-ए-ओ च तद्वन्वर्णानुदर्चिषः[1]।
मत्यादि-ज्ञान-नामानि मत्यादि-ज्ञानसिद्धये ॥१०३॥

'उसी प्रकार ध्याता चार पत्रोंवाले हृदय-कमलमें मति आदि पाँच ज्ञानके नामरूप जो अ, इ, उ, ए, ओ ये पाँच अक्षर हैं उन्हें मतिज्ञानादिको सिद्धिके लिये ऊँची उठती हुई ज्योतिः-किरणोंके रूपमें ध्यावे—अपने ध्यानका विषय बनावे।'

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व पद्यमें अ-सि-आ-उ-सा रूप पाँच अक्षरोंके ध्यानका विधान है, उसी प्रकार इस पद्यमे अ, इ, उ, ए, ओ नामक पाँच अक्षरोके ध्यानका विधान है। ये पाँच अक्षर क्रमशः मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और

१. मु मे मन्त्रानुदर्चिषः।

केवल ऐसे पाँच ज्ञानोंके वाचक हैं। इन अक्षरोंका ऐसे ज्योतिष्मान् अक्षरोंके रूपमें ध्यान किया जाता है जिनसे किरणें ऊपरको उठ रही हों। इन अक्षरोंकी स्थापना भी चार पत्र-वाले हृदयस्थ कमलपर उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार कि अ-सि-आ-उ-सा-की की जाती है। इन अक्षरोको भी पूर्ववत् अपने-अपने स्थानोंपर प्रदक्षिणा करते हुए ध्यानका विषय बनाना चाहिये। इन अक्षरोके ध्यानसे मति आदि ज्ञानोंकी सिद्धिमें सहायता मिलती है। परन्तु ये अक्षर मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोके वाचक किस दृष्टिसे हैं, यह अभी तक स्पष्ट नही हो सका। 'अ'कार अभिनिबोधका वाचक हो सकता है, जो कि मतिज्ञानका नामान्तर है; 'इ'कार 'इरा' का वाचक हो सकता है, जिसका अर्थ वाणी है और इसलिये उससे श्रुतज्ञानका अर्थ लिया जा सकता है; 'उ'कार 'उहि'-अवधिका वाचक हो सकता है। परन्तु ए'कार मन.पर्ययका और 'ओ'कार केवलज्ञानका वाचक कैसे हैं, यह कुछ समझमें नही बैठा। विशेष ज्ञानी इस मत्र-विषयको स्वय समझ ले।

सप्ताक्षरं महामन्त्रं मुख-रन्ध्रेषु सप्तसु ।
गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम् ॥१०४॥

'सप्ताक्षरवाला जो महामन्त्र—णमो अरहताणं—है, उसे गुरुके उपदेशानुसार मुखके सात रन्ध्रों—छिद्रोंमे स्थापित करके वह ध्याता ध्यान करे जो दूरसे सुनने-देखने आदिरूप आत्म-शक्तियोंको विकसित करना अथवा तद्विषयक दूरश्रवादि-ऋद्धि-योंको प्राप्त करना चाहता है।'

व्याख्या—जिस पंचणमोकाररूप मंत्रके एकाग्रचित्तसे जपको परम स्वाध्याय बतलाया गया है (८०) उसके पंच-पदोंमेंसे प्रथमपद 'णमो अरहंताणं' को यहाँ सप्ताक्षर-महामंत्र

सूचित किया है। साथ ही यह भी सूचित किया है कि इस मंत्र-के सात अक्षरोंको मुखके सात छिद्रोंमें गुरुके उपदेशानुसार स्थापित करके ध्यान करनेसे दूरसे सुनने, दूरसे देखने, दूरसे सूँघने और दूरसे रसास्वादनकी शक्ति प्राप्त होती है। सात छिद्रोंमें दो कानोंके, दो आँखोंके, दो नाकके नथनोंके और एक रसनालयका है। इन छिद्रोमेसे कौनसे छिद्रमें और उसके बहि-र्मुख या अन्तर्मुख किस प्रदेश या भागमें कौनसा अक्षर किस प्रकारसे स्थापित किया जाय, यह गुरु-उपदेश अभी तक प्राप्त नही हुआ। कुछ मुनियोंसे पूछने पर भी कोई पता नहीं चल सका। अत· यह सब अभी रहस्यमय है। जिन योगियों अथवा विद्वानोको इस गुप्त रहस्यका पता हो उन्हें उसको लोकहितकी दृष्टिसे प्रकट करनेकी कृपा करनी चाहिये।

जहां तक मैंने इस विषयमें विचार किया है, मुझे पद्यमें प्रयुक्त हुए '**इच्छन् दूरश्रवादिकम्**' पदों परसे यह आभास होता है कि चूँकि इसमें श्रोत्रेन्द्रियके शक्ति-विकासकी बातको पहले लिया गया है तब 'आदि' शब्दसे पश्चात्आनुपूर्वीके क्रमानुसार नेत्र, नासिका और रसना इन्द्रियके विकासकी बात क्रमशः आती है और इसलिए अक्षरोंका विन्यास भी इसी क्रमसे होना चाहिये अर्थात् कानोंके रन्ध्रोंमें प्रथम दो अक्षर, नेत्रके रन्ध्रोंमें द्वितीय दो अक्षर, नासिकाके रन्ध्रोंमें तृतीय दो अक्षर स्थापित किये जाने चाहिये और उनकी स्थापनाका क्रम वामसे दक्षिणकी ओर रहना चाहिये—वामकर्ण-रन्ध्रमें यदि 'ण' तो दक्षिण कर्णरन्ध्रमें 'मो' होना चाहिये; क्योंकि वर्णों की दक्षिण-गति है। शेष सातवे 'ण' अक्षरकी स्थापना रसना इन्द्रियके रन्ध्रमार्गमें की जानी चाहिये, ऐसा प्रतीत होता है। निश्चित रूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि यह कल्पना ठीक हो तो चूँकि इन चारों इन्द्रियोके रन्ध्र बहिर्मुख और अन्तर्मुख

दोनो प्रकारके हैं तब रन्ध्रके किस भागपर और कैसे अक्षरका विन्यास किया जाय, यह समस्या फिर भी हल होनेके लिये रह जाती है। अत. इस विषयमें सम्यक्गुरूपदेश प्राप्त होना ही चाहिये।

हृदयेऽष्टदलं पद्मं वर्गैः पूरितमष्टभिः ।
दलेषु कर्णिकायां च नाम्नाऽधिष्ठितमर्हताम् ॥१०५
गणभृद्वलयोपेतं त्रिःपरीतं च मायया ।
क्षौणी-मण्डल-मध्यस्थं ध्यायेदभ्यर्चयेच्च तत् ॥१०६

'(ध्याता) **हृदयमें पृथ्वीमण्डलके मध्यस्थित आठ दलके कमलको दलोंके आठ वर्गोंसे**—स्वर, क, च, ट, त, प, य, श, वर्गके अक्षरोंसे—**पूरित, और कर्णिकामें 'अर्हं' नामसे अधिष्ठित, गणधर-वलयसे युक्त और मायासे** त्रिःपरीत—ह्रीं बीजाक्षरको तीन परिक्रमाओंसे वेष्ठित—**रूपमे ध्यावे और उसकी पूजा करे।**

व्याख्या—यहाँ सारे मन्त्राक्षरोंसे पूरित जिस अष्टदल कमलके हृदयमें ध्यान तथा पूजनका विधान किया गया है उसके विषयमें तीन बातें और जाननेकी हैं—एक तो यह कि वह जिस गणधरवलयसे युक्त है उसका रूप क्या है, दूसरे 'ह्रीं' की तीन परिक्रमाओंका अभिप्राय क्या है, और तीसरे उस पृथ्वी-मण्डलका रूप क्या है जिसके मध्यमें वह गणधरवलयादिसहित स्थित हुआ ध्यानका विषय होता है। पृथ्वीमण्डल चतुरस्र, मध्यमें दो वज्रोंसे परस्पर विद्ध, मध्यमें अथवा वज्रकोणोंपर पूर्वादि चारों महादिशाओंमें पृथ्वीबीज 'क्षि' अक्षरसे युक्त, मण्डलके चारों कोणों पर 'लं' अक्षरसे युक्त और पीतवर्ण होता है। जैसा कि विद्यानुशासनके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

अन्योऽन्यवज्रविद्धं पीतं चतुरस्रमवनि-बीजयुत ।
कोणेषु लान्तयुक्तं भूमण्डलसञ्ज्ञकं ज्ञेयम् ॥३-१७७॥
मण्डलानां यदा मध्ये नामादिन्यास उच्यते ।
तदा मध्यस्थित बीज महादिक्षु निवेशयेत् ॥३-१८५॥

गणधरवलय नामका एक यत्र है, जिसका नामान्तर गणेश-यन्त्र है, प्रतिष्ठापाठोंमें भी जिसका उल्लेख है और जिन-बिम्बादि-प्रतिष्ठाओके समय जिसका पूजन होता है। इसका प्रारम्भ षट्कोणयन्त्र (चक्र) से विहित है, जिसके ऊपर क्रमशः तीन वलय रहते है जिन्हे गणधरवलय कहा जाता है। प्रथम वलयमे आठ, दूसरेमे सोलह और तीसरेमे चौबीस कोष्ठक होते है, जिनमें ऋद्धिप्राप्त जिनोंके नमस्काररूप क्रमशः ये मन्त्रपद रहते है :—

(प्रथम वलयमे) १ णमो जिणाणं, २ णमो ओहिजिणाण, ३ णमो परमोहिजिणाणं, ४ णमो सव्वोहिजिणाणं, ५ णमो अणतोहिजिणाण, ६ णमो कोट्ठबुद्धोण, ७ णमो बोजबुद्धोण, ८ णमो पदाणुसारोण।

(द्वितीय वलयमे) ९ णमो सभिण्णसोदाराण, १० णमो पत्तेयबुद्धाण, ११ णमो सयबुद्धाण, १२ णमो बोहियबुद्धाणं १३ णमो उजुमदीण, १४ णमो विउलमदीण, १५ णमो दस-पुव्विया (व्वी)णं, १६ णमो चउदसपुव्विया (व्वी)णं, १७ णमो अट्ठ गमहाणिमित्तकुसलाण, १८ णमो विउव्वणइड्ढि-पत्ताण, १९ णमो विज्जाहराणं, २० णमो चारणाणं, २१ णमो पण्णसमणाण, २२ णमो आगासगामीणं, २३ णमो आसीविसाणं, २४ णमो दिट्ठिविसाण।

(तृतीय वलयमें) २५ णमो उग्गतवाणं, २६ णमो दित्तत-वाण, २७ णमो तत्ततवाणं, २८ णमो महातवाणं, २९ णमो

घोरतवाण, ३० णमो घोरपरक्कमाणं, ३१ णमो घोरगुणाणं, ३२ णमो घोरगुणबंभचारीण, ३३ णमो आमोसहिपत्ताण, ३४ णमो खेलोसहिपत्ताणं, ३५ णमो जल्लोसहिपत्ताण, ३६ णमो विट्ठोसहिपत्ताणं, ३७ णमो सव्वोसहिपत्ताणं, ३८ णमो मणबलीणं, ३९ णमो वचिबलीणं, ४० णमो कायबलीणं, ४१ णमो खीरसवीण, ४२ णमो सप्पिसवीणं, ४३ णमो महुसवीणं, ४४ णमो अमियसवीण, ४५ णमो अक्खीणमहाणसाण, ४६ णमो वड्ढमाणाण, ४७ णमो लोए सव्वसिद्धायदणाणं, ४८ णमो भयवदो महदो महावीरवड्ढमाणबुद्धरिसिस्स ।

ये ही तीनों वलय उक्त मन्त्रो-सहित यहाँ '**गणभृद्वलयोपेत**' पदके द्वारा परिगृहीत अथवा विवक्षित जान पड़ते हैं[१] ।

गणधरवलय-यन्त्रमें तृतोय वलयकी ऊपरी वृत्तरेखा पर पूर्वकी ओर मध्यमें 'ह्रीं' बीजमन्त्र विराजता है, इसकी ईकार मात्रासे वलयको त्रिगुणवेष्टित करके अन्तमें उसे 'क्रौं' बीजसे निरुद्ध किया जाता है, जैसा कि आशाधरप्रतिष्ठापाठके "चतुर्विंशतिपदान्यालिख्य ह्रीकार-मात्रया त्रिगुण वेष्टयित्वा क्रौंकारेण निरुद्ध्य वहिः पृथ्वीमंडलं" इस वाक्यसे प्रकट है। इस प्रकार

---

१. इन ४८ मन्त्रोंमें ११, १२, १३, और ४६ नं० के मन्त्रोको छोड़ कर शेष ४४ मंत्र वे ही है जो षट्खण्डागम-गत वेदनाखण्डके प्रारम्भमें महाकम्मपयडिपाहुडमें उद्धृत हैं और इसलिये गौतम-गणधरकृत कहे जाते हैं। कुछ प्रतिष्ठापाठोंमें इनके तथा अन्य चार मन्त्रोके भी पूर्व में 'ॐ ह्रीं ह्रूं' जैसे बीजपद जोड़े गये हैं, परन्तु श्रीआशाधरकृत प्रतिष्ठासारोद्धारमें ऐसा नहीं किया गया—इन्हें मूलरूपमें ही रहने दिया गया है, जो ठीक जान पड़ता है।

ह्रींकारके वेष्टन अथवा परिक्रमणका जो रूप बनता है, वही **'त्रिःपरीत्य च मायया'** इस वाक्यका यहाँ अभिप्राय है।

विवक्षित कमलादिके रूपमें ध्यानका यह विषय बहुत ही गहन-गम्भीर तथा अर्थ-गौरवको लिये हुए है और आत्मविकासमें बहुत बड़ा सहायक जान पडता है। इसी ध्यानका उल्लेख मुनि श्रीपद्मसिंहने अपने 'ज्ञानसार' ग्रन्थ (वि० १०८६) की निम्न दो गाथाओंमे किया है और उसका फल इच्छित कार्यकी तत्क्षण सिद्धि बतलाया है.—

> अट्ठदलकमलमज्झे अरुह वेढेइ परमबीयेहिं।
> पत्तेसु तह य वग्गा दलतरे सत्त वण्णा (?) य ॥२६॥
> गणहरवलयेण पुणो मायाबीएण धरयलक्कतं।
> जं जं इच्छइ कम्मं सिज्झइ तं तं खणद्धेण ॥२७॥

[1]अकारादि-हकारान्ता मंत्राः परमशक्तयः।
स्वमण्डल-गता ध्येया लोकद्वय-फलप्रदाः ॥१०७॥

'अकारसे लेकर हकार पर्यन्त जो मंत्ररूप अक्षर हैं वे अपने अपने मण्डलको प्राप्त हुए परम शक्तिशाली ध्येय हैं और दोनों लोकके फलोंको देनेवाले हैं।'

व्याख्या—यहाँ मंत्ररूपमे जिन अक्षरोकी सूचना की गई है उनमें वर्णमालाके सभी अक्षर आजाते हैं; क्योंकि वर्णमालाके आदिमें 'अ' और अन्तमे 'ह' अक्षर है। सब अक्षरोंके नाम इस प्रकार हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः, ये १६ अक्षर स्वरवर्ण कहलाते हैं; क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ,

---

१ अकारादि-हकारान्ता वर्णा मंत्राः प्रकीर्तिताः।
सर्वैरसहाया वा संयुक्ता वा परस्परम् ॥
—विद्यानुशासन २-३ तथा मंत्रसारसमुच्चय २-५

ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व (अन्तस्थ), श ष स ह (ऊष्माण), ये ३३ अक्षर व्यंजन कहे जाते हैं; और ये क च ट त प य श ऐसे सात वर्गोंमे विभाजित है। स्वरोका एक वर्ग मिलाकर वर्गोंकी पूरी सख्या आठ होजाती है, जिसकी सूचना पिछले एक पद्य (१०४) में **'वर्गैः पूरितमष्टभिः'** इस वाक्यके द्वारा की गई है। इन अक्षरोंके अलग अलग मडल हैं— स्वर तथा ऊष्मवर्ण जलमडलके, कवर्गा तथा अन्तस्थवर्ण अग्निमडलके, च-प-वर्गीवर्ण पृथ्वीमडलके और ट-त-वर्गीवर्ण वायु-मडलके है। इन मडलगत अक्षरोकी जाति क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र है तथा रंग क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत और श्याम है[1]। इनमे जलमंडल कलश या अर्धचन्द्रके आकार, अग्निमंडल त्रिकोण, पृथ्वीमडल चतुरस्र और वायुमडल गोलाकार होता है। इन मूलाक्षरोकी शक्तियोंका वर्णन विद्यानु-शासन ग्रन्थमें पाया जाता है। यहाँ इन सब अक्षरोंको मन्त्र कहा गया है सो ठीक है, **'अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषध'** इस प्रसिद्ध सिद्धान्तोक्तिके अनुसार जिस प्रकार ऐसो कोई मूल (जड) नही जो औषधिके काममें न आती हो, उसी प्रकार ऐसा कोई अक्षर नही जो मंत्रके काममें न आता हो; परन्तु प्रत्येक मूलसे औषधिका काम लेनेवाला जिस प्रकार दुर्लभ है उसी प्रकार प्रत्येक अक्षरकी मंत्रके रूपमे योजना करनेवाला भी दुर्लभ है। इसीसे **'योजकस्तत्र दुर्लभः'** यह वाक्य भी उक्त सिद्धान्तोक्ति-के साथ कहा गया है।

---

१. स्वरोष्माणो द्विजाः श्वेता अम्बुमडलसंस्थिताः।
क्वन्तस्था भूभुजो रक्तास्तेजोमडलमध्यगाः ॥४॥
चु-पू वैश्यान्वयो पीताः पृथ्वीमडलभागिनो
टु-तू कृष्णत्विषो शूद्रो वायुमडलसभवौ ॥५॥
—विद्यानुशासन परि० २

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि आठों वर्गों-के उक्त अलग-अलग अक्षर ही मंत्र नहीं हैं किन्तु उनके परस्पर संयोगसे बने हुए संयुक्ताक्षर भी मंत्र होते हैं; जैसे ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं अर्हं आदि। ऐसे मंत्रोकी संख्या मूलाक्षर मंत्रोसे, जो अनादि-सिद्धान्तप्रसिद्ध-वर्णमात्रिकाके रूपमें स्थित हैं, बहुत अधिक है। अनादिसिद्धान्त-प्रसिद्ध वर्णमातृकाके ध्यानकी प्रेरणा करते हुए उसे निःशेष शब्द-विन्यासकी जन्मभूमि कहा गया है—

ध्यायेदनादिसिद्धान्त-प्रसिद्ध-वर्णमातृकाम् ।
निःशेषशब्दविन्यास-जन्मभूमिं जगन्नुताम् ॥

—ज्ञानार्णव ३८-२ । मंत्रसारसमुच्चय अ०२

नामध्येयका उपसंहार

इत्यादीन्मंत्रिणो मंत्रानर्हन्मंत्र-पुरस्सरान् ।
ध्यायन्ति यदिह स्पष्टं नामध्येयमवैहि तत् ॥१०८॥

'इन 'अर्हं' मंत्रपुरस्सर मंत्रोंको आदि लेकर और भी मंत्र हैं जिन्हें नामध्येयरूपसे मांत्रिक ध्याते हैं, उन सबको भी स्पष्टरूपसे नाम-ध्येय समझो।'

व्याख्या—नाम-ध्येयके रूपमें कुछ मंत्रोंका उल्लेख करनेके अनन्तर यहाँ उसी प्रकारके दूसरे मंत्रोंको भी नाम-ध्येयके रूपमें समझनेकी प्रेरणा की गई है। ऐसे बहुतसे मंत्र है, जो आर्ष (महापुराण), ज्ञानार्णव, योगशास्त्र तथा विद्यानुशासनादि ग्रन्थोंसे जाने जा सकते हैं। द्रव्यसंग्रहमें ऐसे कुछ मंत्रोंकी सूचना निम्न गाथा-द्वारा की गई है—

पण तीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह ज्झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥

इसमें पेंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक अक्षर-वाले प्रसिद्ध मंत्रोंकी सूचना की गई है; साथ ही परमेष्ठिवाचक दूसरे मंत्रोंको भी गुरु-उपदेशानुसार जपने तथा ध्यानेकी प्रेरणा की गई है। पेंतीस अक्षरोंका प्रसिद्ध मंत्र 'णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' है, जिसे णमोकारमंत्र, मूलमंत्र तथा अपराजितमंत्र भी कहते हैं; सोलह अक्षरका मंत्र 'अरिहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाय साहू' तथा 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः; छह अक्षरोंके मंत्र 'अरहंत सिद्ध, अर्हद्भ्यः नमोस्तु, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, नमोऽर्हत्सिद्धेभ्यः'; पंचाक्षर-मंत्र 'णमो सिद्धाणं, असिआउसा, नमः सिद्धेभ्यः'; चतुरक्षर मंत्र 'अरहंत'; दो अक्षरोंके मंत्र 'सिद्ध, अर्हं' तथा एक अक्षरके मंत्र 'ॐ, ह्रीं, ह्रँ' तथा अकारादि' हैं। दूसरे मंत्रोंमे पापभक्षिणी विद्याका मंत्र सुप्रसिद्ध है और वह इस प्रकार है :—

ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनि पापात्मक्षयकरि श्रुतज्ञानज्वाला-सहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा।

स्थापना-ध्येय

जिनेन्द्र-प्रतिबिम्बानि कृत्रिमाण्यकृतानि च।
यथोक्तान्यागमे तानि तथा ध्यायेदशंकितम् ॥१०९॥

'जिनेन्द्रकी जो प्रतिमाएँ कृत्रिम और अकृत्रिम हैं तथा आगममें जिस रूपमें कही गई हैं उन्हें उसी रूपमें ध्याता निःशंक होकर अपने ध्यानका विषय बनावे—यह स्थापना-ध्येय है।'

व्याख्या—यहाँ जिनेन्द्र-प्रतिबिम्बोंको स्थापना-ध्येयमें परिगणित किया गया है और उसके दो भेदोंकी सूचना की गई है—

एक कृत्रिम और दूसरा अकृत्रिम। शिल्पियोके द्वारा रचित कृत्रिम जिन-बिम्ब जगह-जगह उपलब्ध हैं, जिनमे बाहुबली तथा महावीरजी जैसे कुछ प्रतिबिम्ब सातिशय कोटिमें स्थित हैं, अकृत्रिम जिनबिम्ब कहां-कहा पाये जाते हैं और उनका क्या कुछ स्वरूप है, यह जैनागममें जिस प्रकार से वर्णित है उसी प्रकारसे उनको अपने ध्यानका विषय बनाना चाहिये। यह सब स्थापना-ध्येयका विवक्षित-रूप है।

द्रव्य-ध्येय

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पित्सु स्थास्नु नश्वरम्।
तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं[1] विचिन्तयेत् ॥११०॥

'जिस प्रकार एक द्रव्य एक समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होता है उसी प्रकार सर्वद्रव्य सदा काल उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होते रहते हैं, इस तत्त्वको ध्याता चिन्तन करे।'

व्याख्या—द्रव्यध्येयका निरूपण करते हुए, यहाँ सबसे पहले द्रव्य-सामान्यको ध्यानका विषय बनानेकी प्रेरणा की गई है। द्रव्य-का सामान्य स्वरूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है, वह जैसे एक द्रव्य-का स्वरूप है वैसे ही सब द्रव्योका स्वरूप है और जैसे वह एक समयवर्ती है वैसे ही सर्वसमयवर्ती है अर्थात् प्रत्येक द्रव्यमे उक्त सामान्य स्वरूप प्रतिक्षण रहता है और उससे द्रव्यका द्रव्यत्व बना रहता है। इस तत्त्वको ध्यानका विषय बनाना चाहिये।

तत्त्वार्थसूत्रके **'सद्द्रव्यलक्षणम्'** तथा **'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्'** इन दो सूत्रोमे जो बात द्रव्यके स्वरूप-विषयमे कही गई है और जो स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनमे **'प्रतिक्षणं स्थित्यु-दय-व्ययात्म-तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम्'** इस रूपसे व्यवस्थित

१. सि जु तथ्यं।

हुई है उसीको यहाँ दूसरे स्पष्ट शब्दोंमें द्रव्य-ध्येयका विषय बनाते हुए निर्दिष्ट किया गया है।

याथात्म्य-तत्त्व-स्वरूप

चेतनोऽचेतनो वाऽर्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ।।१११।।

'जो चेतन या अचेतन पदार्थ जिस प्रकारसे व्यवस्थित है उसका उसी प्रकारसे जो भाव है उसको 'याथात्म्य' तथा 'तत्त्व' कहते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'अर्थ' शब्द द्रव्यका वाचक है, उसी प्रकार जिस पकार कि वह स्वामी समन्तभद्रके '**सद्विहार्थरूपम्**' इस वाक्यमें उसका वाचक है। उस द्रव्यके मूल दो भेद हैं—एक चेतन, दूसरा अचेतन। कोई भी द्रव्य, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, जिस रूपसे व्यवस्थित है उस रूपसे ही उसका जो भाव है—परिणाम है—उसको 'याथात्म्य' कहते हैं और उसीका नाम 'तत्त्व' है। जो कि '**तस्य भावस्तत्त्वं**'[1] इस निरुक्तिको चरितार्थ करता है।

अनादि-निधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ।।११२।।

'द्रव्य, जो कि अनादिनिधन है—आदि-अन्तसे रहित है—उसमें प्रतिक्षण स्वपर्यायें जलमें जल-कल्लोलोंकी तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं।'

व्याख्या—यहाँ द्रव्यका 'अनादिनिधन' विशेषण अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातको सूचित करता है कि कोई द्रव्य

१. तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः। (सर्वार्थ० १-२)

कभी उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी नाशको प्राप्त होगा। हाँ, द्रव्योंमें जो स्वपर्यायें हैं वे जलमें जलकल्लोलोंकी तरह प्रतिक्षण ऊपरको उठती तथा नीचेको बैठती रहती हैं, यही द्रव्यका प्रतिक्षण स्वाश्रित उत्पाद-व्यय है, जो उसके लक्षणका अंग बना हुआ है।

'स्वपर्यायाः' पद भी यहाँ अपनी खास विशेषता रखता है और वह पराश्रित-पर्यायोंके व्यवच्छेदका सूचक है। जो पर्यायें परके निमित्तसे अथवा परके मिश्रणसे उत्पन्न होती हैं उनका स्वपर्यायोंमें ग्रहण नहीं है; क्योंकि स्वपर्यायें द्रव्यमें सदा अवस्थित और इसलिए नित्य होती हैं, भले ही उन्हें उदय, अनुदय तथा उदीर्णकी दृष्टिसे भूत, भावी तथा वर्तमान क्यों न कहा जाय[1]।

यद्विवृतं यथापूर्वं[2] यच्च पश्चाद्विवर्त्स्यति।
विवर्तते यदत्राऽद्य तदेवेदमिदं च तत् ॥११३॥

'जो यथापूर्व—पूर्वक्रमानुसार—पहले (गुण-पर्यायोंके साथ) विवर्तित हुआ, जो पीछे विवर्तित होगा और जो इस समय यहाँ विवर्तित हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही उन सबरूप है।'

व्याख्या—यहाँ द्रव्यका अपने त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायोंके साथ और गुण-पर्यायोंका अपने सदा ध्रौव्यरूपसे स्थित रहनेवाले द्रव्यके साथ अभेद प्रदर्शित किया गया है—कहा गया है कि जो वे हैं वही यह द्रव्य है और जो यह है वही वे गुण-पर्यायें हैं।

---

१. अथवा भाविनो भूता. स्वपर्यायास्तदात्मकाः।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥ (तत्त्वानु० १९२)

२. ज तथापूर्वं।

सहवृत्ता गुणास्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।
स्यादेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ।। ११४।।

'द्रव्यमें गुण सहवर्ती—एक साथ युगपत् प्रवृत्त होनेवाले—और पर्यायें क्रमवर्ती—क्रमशः प्रवृत्त होनेवाली—हैं। द्रव्य इन गुण-पर्यायात्मक है और ये गुण-पर्याय द्रव्यात्मक हैं—द्रव्यसे गुण-पर्याय जुदे नही और न गुण-पर्यायोंसे द्रव्य कोई जुदी वस्तु है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१००) में 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' इस वाक्यके द्वारा द्रव्य उसे बतलाया है जो गुणों तथा पर्यायोंको आत्मसात् किये हुए हो। इस पद्यमें गुणों तथा पर्यायोंका स्वरूप बतलानेके साथ-साथ इस बातको स्पष्ट किया गया है कि कैसे द्रव्य गुण-पर्यायवान् है। जो द्रव्यमें सदा सहभावी हैं और एकसाथ प्रवृत्त होते हैं उन्हें गुण कहते हे; जो द्रव्यमें क्रमभावी हैं और क्रमशः प्रवृत्ति करते हैं उन्हें पर्याय कहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्यात्मक हैं और द्रव्य इन गुण-पर्यायात्मक है—एकसे दूसरा जुदा नहीं; इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् कहा गया है।

एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकम् ।
प्रतिक्षणमनाद्यन्तं सर्वं ध्येयं यथास्थितम् ।।११५।।

'इस प्रकार यह द्रव्य नामकी वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्यय रूप है तथा अनादि-निधन है वह सब यथास्थितरूपमें ध्येय है—ध्यानका विषय है।'

व्याख्या—यहाँ, द्रव्य-ध्येयके कथनका उपसंहार करते हुए, यह सार निकाला है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययरूप है, आदि-अन्तसे रहित है और जिस रूपमें अवस्थित है उसी रूपमें ध्यानका विषय है—अन्य रूपमें नहीं।

भाव-ध्येय

अर्थ-व्यंजन-पर्यायाः मूर्ताऽमूर्ता गुणाश्च ये ।
यत्र द्रव्ये यथाऽवस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत्[1] ॥११६॥

'जो अर्थ तथा व्यंजनपर्यायें और मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जिस द्रव्यमें जैसे अवस्थित हैं उनको वहाँ उसी रूपमें ध्याता चिन्तन करे—यह भावध्येयका स्वरूप है।'

व्याख्या—पिछले जिस पद्य (१००) में गुणपर्यायवान्‌को द्रव्यध्येय बतलाया है उसीमें मुख्यतः गुण तथा पर्यायके ध्यानको भावध्येय सूचित किया है। यहाँ भावध्येयको स्पष्ट करते हुए पर्यायोंके दो भेद किये हैं—एक अर्थपर्याय और दूसरी व्यंजनपर्याय ये पर्यायें और गुण, जो सामान्य तथा विशेषको दृष्टिसे अनेक प्रकारके होते हैं, जिस द्रव्यमें जहाँ जिस प्रकारसे अवस्थित हो उस द्रव्यमें वहाँ उसी प्रकारसे उनका जो ध्यान है वह सब भावध्येय है।

अर्थपर्यायें छहों द्रव्योंमें होती हैं, जब कि व्यंजनपर्यायें केवल जीव तथा पुद्गल द्रव्योंसे ही सम्बन्ध रखती हैं[2]। ये व्यंजन-पर्यायें स्थूल, वाग्गम्य, प्रतिक्षण-विनाश-रहित तथा कालान्तर-स्थायी होती हैं, जब कि अर्थपर्याय सब सूक्ष्म तथा प्रतिक्षणक्षयी होती हैं।[3]

द्रव्यके छह भेद और उनमें ध्येयतम आत्मा

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माऽधर्मौ तथाऽम्बरम् ।
षड्विधं द्रव्यमाख्यातं[4] तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥११७॥

---

१. मे स्मरे.।
२. व्यंजनेन तु सम्बद्धौ द्वावन्यौ जीव-पुद्गलौ ॥ (आलापपद्धति)
३. मूर्तो व्यंजनपर्यायो वाग्गम्योऽनश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्म. प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थगोचरः ॥ ज्ञानार्णव ६-४५
४. मु मे माम्नात ।

'पुरुष (जीवात्मा), पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ऐसे छह भेदरूप द्रव्य कहा गया है। उन द्रव्य-भेदोंमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य पुरुषरूप आत्मा है।'

व्याख्या—द्रव्यके जीव, पुद्गल, धर्म, अधम, आकाश और काल ऐसे मूल छह भेद जैनागममें प्रसिद्ध हैं। यहाँ जीवद्रव्यको 'पुरुष' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया गया है। इसके दो कारण जान पडते हे। एक तो जीव और उसका पर्याय नाम आत्मा दोनो शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे पुल्लिग हे। दूसरे आगे पुरुषविशेषों-पंचपरमेष्ठियोको मुख्यतः भिन्न-ध्यानका विषय बनाना है। अतः प्रकृतमें सहजबोधकी दृष्टिसे जीवके स्थान पर पुरुषशब्दका प्रयोग किया गया है। अगले पद्यमें इसी पुरुषको 'आत्मा' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया ही है।

इन छहों द्रव्योंमें जीवद्रव्य चेतनामय चेतन और शेष चेतना-रहित अचेतन हे; पुद्गलद्रव्य मूर्तिक और शेष अमूर्तिक हें; काल-द्रव्य प्रदेश-प्रचयसे रहित होनेके कारण अकाय है और शेष प्रदेश-प्रचयसे युक्त होनेके कारण अस्तिकाय कहे जाते हें। परमाणुरूप पुद्गलद्रव्य यद्यपि एकप्रदेशो है, परन्तु नानास्कन्धोंका कारण तथा उनसे मिलकर स्कन्धरूप हो जानेके कारण उपचारसे 'सकाय' कहा जाता है[1]। जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष सब निष्क्रिय हैं; ये ही दोनों द्रव्य कथंचित् विभावरूप भी परिणमते हे, शेष सब सदा स्वाभाविक परिणमनको ही लिये रहते हें। धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य संख्यामे एक-एक ही हें, कालद्रव्य असंख्यात हैं, जीवद्रव्य अनन्त हैं और पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं। जीव, पुद्गल दोनों द्रव्योंमें संकोच-विस्तार संभव है, शेष द्रव्योंमें बहु

१. एय-पदेसो वि अणू णाणा-खंधप्पदेसदो होदि।
बहुदेसो उवयारा तेण य काओ भणंति सव्वण्हू ॥ (द्रव्यसं० २६)

नही होता अथवा उसको सभावना नही। आकाश अखण्ड एक-द्रव्य होते हुए भी उसके दो भेद कहे जाते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। आकाशके जिस बहुमध्यप्रदेशमे जोव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पांच द्रव्य अवलोकित होते हैं उसे 'लोकाकाश' और शेषको 'अलोकाकाश' कहते हैं। धर्म और अधर्म दो द्रव्य सदा सारे लोकाकाशको व्याप्त कर स्थिर रहते हैं, जब कि दूसरे द्रव्योंकी स्थिति वैसी नही। कालाणुरूप काल-द्रव्य तो लोकाकाशके एक-एक प्रदेशमें स्थिर है और इसलिये लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं। एक जीवकी अपेक्षा जीव लोकके एक असख्यातवें भागसे लेकर दो आदि असंख्येय भागोमें व्याप्त होता है और लोकपूर्ण-समुद्घातके समय सारे लोकाकाशको व्याप्त कर तिष्ठता है। नाना जोवोकी अपेक्षा सारा लोकाकाश जीवोसे भरा है। पुद्गल द्रव्यके अणु और स्कन्ध दो भेद हैं। अणुका अवगाहन-क्षेत्र आकाशका एक प्रदेश है, द्वयणुकादिरूप स्कन्धोका अवगाह्य-क्षेत्र लोकाकाशके द्विप्रदेशादिकोमे है।

द्रव्यका लक्षण सत् है और सत् उसे कहते हैं जो प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक हो अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त हो। जीवद्रव्यका लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान-दर्शनके भेदसे दो प्रकार-का है और इसलिये जीवद्रव्यको 'ज्ञान-दर्शनलक्षण' भी कहा जाता है। जीवोके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद हैं; संसारी जीव त्रस और स्थावरके भेदसे दो भेदोंमे विभक्त हैं, जिनमें पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिकायके एकेन्द्रियजीव स्थावर कहलाते और शेष द्वीन्द्रियादि जीव 'त्रस' कहे जाते हैं। त्रसजीवोका निवासस्थान लोकके मध्यवर्तिनी त्रसनाड़ी है और स्थावरजीव त्रसनाडी और उससे बाहर सारे ही लोकमे निवास करते हैं।

जो स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण-गुणवाले होते हैं उन्हें 'पुद्गल' कहते हैं; स्पर्शके कोमल, कठोर, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष ऐसे आठ; रसके तिक्त (चरपरा), कटुक, अम्ल, मधुर और कषायला ऐसे पाँच; गंधके सुगन्ध, दुर्गन्ध ऐसे दो; और वर्णके नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ऐसे पाँच मूलभेद हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योतवालोंको भी पुद्गल कहा जाता है, अथवा यों कहिये कि पुद्गलके इन दस विशेषों अथवा पर्यायोंमेंसे जिस किसीसे भी कोई विशिष्ट अथवा युक्त है वह पुद्गल है।

गतिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलोंको जो उनके गमनमें उस प्रकार सहायक–उपकारक होता है जिस प्रकार जलमछलियोंके चलनेमें, परन्तु गमन न करनेवालोको उनके गमनमे प्रेरक नहीं है, उसे धर्मद्रव्य कहते हैं[1]। अधर्मद्रव्य[2] उसका नाम है जो स्थितिरूप परिणत हुए जीवों तथा पुद्गलोंको उनके ठहरनेमें उस प्रकार सहकारी-उपकारी होता है जिस प्रकार पथिकोंको ठहरनेमें वृक्षादिककी छाया, परन्तु चलते हुओंको ठहरनेको प्रेरणा नहीं करता और न उन्हें बलपूर्वक ठहराता है। जो जीवादिक द्रव्योंको अपनेमें अवगाह–अवकाश-दान देनेकी योग्यता रखता है उसे आकाशद्रव्य[3] कहते हैं, जिसके लोक-अलोकके विभागसे दो भेद ऊपर बतलाये जा चुके हैं। जो द्रव्योंके परिवर्तनरूप है—

१. गइ-परिणयाण धम्मो पुग्गल-जीवाण गमण-सहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेई ॥१७॥ (द्रव्यसंग्रह)

२. ठाण-जुदाण अधम्मो पुग्गल-जीवाण ठाण-सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरई ॥१८॥ (द्रव्यसंग्रह)

३. अवगास-दाण-जोग्गं जीवादीणं वियाण आयासं ॥१९॥ (द्रव्यसं०)

उनके परिवर्तनमे सहकारी है—उसे कालद्रव्य[1] कहते हैं। काल-द्रव्यके भी दो भेद है—एक निश्चयकाल और दूसरा व्यवहार-काल। लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें जो अनादि-निधन एक-एक कालाणु स्थित है और जिसका वर्तना लक्षण है-जो जीव-पुद्गलादि सभी द्रव्योको उनके प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्रूप वर्तनमे सहायक अथवा स्वसत्तानुभूतिमे कारण है—उसे निश्चय-कालद्रव्य कहत है। ऐसे कालद्रव्य असख्य हैं, उन्हें रत्नोकी राशिकी तरह माना गया है। व्यवहारकालद्रव्य उसका नाम है जो समय (क्षण), पल, घडी, घटा, मुहूर्त, पहर, दिन, रात्रि, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदिके भेदको लिये हुए आदि-अन्त-सहित है। निश्चयकाल द्रव्यके पर्यायरूप है और जिसके परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व ये चार लक्षण हैं। द्रव्यमें अपनी जातिको न छोडते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक स्थूल परिवर्तन—पर्यायसे पर्यायान्तर-होता है उसे 'परिणाम' कहते हैं। बाह्य तथा आभ्य-न्तर कारणोसे द्रव्यमें जो परिस्पन्दात्मक परिणाम होता है उसका नाम 'क्रिया' है। कालकृत बडापनको 'परत्व' और छोटापनको 'अपरत्व' कहते हैं।

इस प्रकार छहों द्रव्योंका यह सक्षिप्त-सार' है, विशेष तथा विस्तृत परिचयके लिये तत्त्वार्थसूत्रकी तत्त्वार्थराजवार्तिकादि टीकाओ तथा दूसरे आगमग्रन्थोको देखना चाहिये।

इन सब द्रव्योमें सबसे अधिक ध्यानके योग्य आत्मद्रव्य है।

आत्मद्रव्य सर्वाधिक ध्येय क्यो ?

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥११८॥

---

१. दव्व-परिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ, ववहारो।
परिणामादीलक्खो, वट्टणलक्खो य परमट्ठो ॥२१॥ (द्रव्यसं०)

'**ज्ञाताके होने पर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है। इसलिये ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम**—सर्वाधिक ध्येय है।'

व्याख्या—आत्मा सबसे अधिक ध्येय क्यों है ? इस प्रश्नके उत्तरके लिये ही प्रस्तुत पद्यकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। उत्तर बहुत साफ दिया गया है, जिसका स्पष्ट आशय यह है कि जब कोई भी ज्ञेय-वस्तु ज्ञाताके बिना ध्येयताको प्राप्त नहीं होती तब यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही सबसे अधिक महत्वका ध्येय ठहरता है।

आत्मद्रव्यके ध्यानमें पंचपरमेष्ठिके ध्यानकी प्रधानता।

तत्राऽपि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धः स्वामी तु[1] निष्कलः ॥११९॥

'**आत्माके ध्यानोंमें भी वस्तुतः** (व्यवहार ध्यानकी दृष्टिसे) **पंच परमेष्ठी ध्यान किये जानेके योग्य है, जिसमें चार**—अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी **सकल हैं**—शरीर सहित है—**और सिद्ध-परमेष्ठी निष्कल—**शरीर-रहित—**हैं तथा स्वामी हैं।**'

व्याख्या—पिछले दो पद्योंमें जिस पुरुषात्माको ध्येयतम बतलाया गया है उसके भेदोंमें यहाँ मुख्यतः पंच परमेष्ठियोंके ध्यानकी प्रेरणा की गई है, जिनमें चार सशरीर और सिद्ध अशरीर है। सिद्धका 'स्वामी' विशेषण अपनी खास विशेषता रखता है और इस बातका स्पष्ट सूचक है कि वस्तुतः सिद्धात्मा ही स्वात्म-सम्पत्तिका पूर्णतः स्वामी होता है—दूसरा कोई नहीं।

सिद्धात्मक-ध्येयका स्वरूप

अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सम्यक्त्वादि-गुणात्मकम्।
स्वोपात्ताऽनन्तर-त्यक्त-शरीराऽऽकार-धारिणम्[2] ॥१२०॥

---

१. मु मे स्वामीति। सि जु सिद्धस्वामी तु।
२. मु धारिणः।

साकारं च निराकारममूर्तमजराऽमरम् ।
जिन-बिम्बमिव स्वच्छ-स्फटिक-प्रतिबिम्बितम् ।।१२१।।

लोकाऽग्र-शिखराऽऽरूढमुद्गूढ-सुखसम्पदम् ।
सिद्धात्मानं निराबाधं ध्यायेन्निर्धूत-कल्मषम् ।।१२२।।

'जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और सम्यक्त्वादि गुणमय है, स्वगृहीत और पश्चात् परित्यक्त ऐसे (चरम) शरीरके आकार-का धारक है, साकार और निराकार दोनों रूप है, अमूर्त है, अजर है, अमर है, स्वच्छ-स्फटिकमें प्रतिबिम्बित जिनबिम्बके समान है, लोकके अग्रशिखर पर आरूढ है, सुख सम्पदासे परिपूर्ण है, बाधाओंसे रहित और कर्मकलंकसे विमुक्त है उस सिद्धात्मा-को ध्याता ध्यावे—अपने ध्यानका विषय बनावे।'

व्याख्या—यहाँ सिद्धात्माके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसके ध्यानकी प्रेरणा की गई है अथवा यों कहिये कि सिद्धात्माको निर्दिष्ट-रूपमें ध्यानेकी व्यवस्था की गई है। इस स्वरूप-निर्देशमें 'आदि' शब्दके द्वारा सिद्धोंके प्रसिद्ध अष्टगुणोंमेंसे, जो आठ कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होते हैं, शेष पाँच गुणों—अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु और अव्याबाधकी सूचना की गई है। सिद्धोंको साकार और निराकार दोनों रूपमें जो प्रतिपादित किया है उसका आशय इतना ही है कि जिस पर्यायसे उन्हें मुक्तिकी प्राप्ति हुई है उसमें जो शरीर उन्हें प्राप्त था और जिसे त्याग करके वे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं उस शरीराकार आत्माके प्रदेश बने रहते हैं इसलिये वे साकार हैं; परन्तु वह आकार त्यक्तशरीरसदृश पौद्गलिक नहीं होता और न इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किया जाता है इसलिये निराकार है। इन दोनों बातोंको स्पष्ट करनेके लिये जिनबिम्ब

और निर्मल स्फटिकका जो उदाहरण दिया है वह बड़ा ही सुन्दर तथा हृदयग्राही है—निर्मल स्फटिकमें प्रतिबिम्बित हुए जिन-बिम्बका आकार तो है परन्तु उसका पौद्गलिक शरीर नहीं है। 'लोकाग्रशिखरारूढ' विशेषणमें 'लोकाग्रशिखर' लोकके मध्यमें स्थित त्रसनाड़ीका वह सर्वोपरि भाग है जिसके नीचे अर्धचन्द्राकार सिद्धशिला रहती है। कर्म-बन्धनसे छूटते ही सिद्धात्मा ऊर्ध्व-गमन-स्वभावसे एक क्षणभरमें वहाँ पहुँच जाता है। सिद्धात्मा-के इस ध्यानमें उसे प्रायः वहीं स्थित ध्याया जाता है।

अर्हदात्मक-ध्येयका स्वरूप

तथाऽऽद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदैवतम्[1] ।
प्रक्षीण-घातिकर्माणं प्राप्ताऽनन्त-चतुष्टयम् ॥१२३॥
दूरमुत्सृज्य भू-भागं नभस्तलमधिष्ठितम् ।
परमौदारिक-स्वाऽङ्ग-प्रभा-भर्त्सित-भास्करम् ॥१२४॥
चतुस्त्रिंशन्महाऽऽश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितम् ।
मुनि-तिर्यङ्-नर-स्वर्गि-सभाभिः सन्निषेवितम् ॥१२५॥
जन्माऽभिषेक-प्रमुख-प्राप्त-पूजाऽतिशायिनम्[2] ।
केवलज्ञान-निर्णीत-विश्वतत्त्वोपदेशिनम् ॥१२६॥
प्रशस्त-लक्षणाकीर्ण[3]-सम्पूर्णोदग्र-विग्रहम् ।
आकाश-स्फटिकान्तस्थ-ज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ॥१२७
तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
परमात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निःश्रेयसाऽऽप्तये ॥१२८॥

---

१. आ मधिदेवतां । २. आ ज अतिशायनं । ३. मु प्रभास्वल्लक्षणाकीर्ण

' तथा जो आप्तोंका प्रमुख आप्त है, देवोंका अधिदेवता है, घातिकर्मोंको अत्यन्त क्षीण किये हुए है, अनन्त-चतुष्टयको प्राप्त है, भूतलको दूर छोड़कर नभस्तलमें अधिष्ठित है, अपने परम औदारिक शरीरकी प्रभासे भास्करको तिरस्कृत कर रहा है, चौंतीस महान् आश्चर्यों-अतिशयों और (आठ) प्रातिहार्योंसे सुशोभित है, मुनियों-तिर्यंचों-मनुष्यों और स्वर्गादिके देवोंकी सभाओंसे भले प्रकार सेवित है, जन्माभिषेक आदिके अवसरों पर सातिशय पूजाको प्राप्त हुआ है, केवलज्ञान-द्वारा निर्णीत सकल-तत्त्वोंका उपदेशक है, प्रशस्त-लक्षणोंसे परिपूर्ण उच्च शरीरका धारक है, आकाश-स्फटिकके अन्तमें स्थित जाज्वल्यमान ज्वालावाली अग्निके समान उज्ज्वल है, तेजोंमें उत्तम तेज और ज्योतियोंमें उत्तम ज्योति है, उस अर्हन्त परमात्माको ध्याता निःश्रेयसकी—जन्म-जरा-मरणादिके दुःखोसे रहित शुद्ध सुखस्वरूप निर्वाणकी[1]—प्राप्तिके लिये ध्यावे—अपने ध्यानमे उतारे।'

व्याख्या—इन पद्योंमें अर्हत्परमात्माको जिस रूपमे ध्याना चाहिये उसकी व्यवस्था दी गई है और उसका उद्देश्य निःश्रेयस (मोक्ष)-सुखको प्राप्ति बतलाया है। अर्थात् मोक्ष-सुखकी साक्षात् प्राप्ति तथा प्राप्तिकी योग्यता सम्पादन करनेके लक्ष्यको लेकर यह ध्यान किया जाना चाहिये। इस ध्यानकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें अर्हत्परमात्माको भूतलसे दूर आकाश-में स्थित ध्यान किया जाता है और इस रूपमें देखा जाता है कि उनके परम औदारिकशरीरकी प्रभाके आगे सूर्यकी ज्योति फीकी पड़ रही है। वे ज्योतियोंमें उत्तमज्योति और तेजोंमें उत्तमतेज-युक्त हैं, चौंतीस अतिशयों (महान् आश्चर्यों) तथा आठ प्रातिहार्यो से विभूषित हैं और मुनियों, देवों, मानवों तथा

तिर्यंचोंकी सभाओंसे निषेवित हुए उन्हें उन सब तत्त्वोंका उपदेश देरहे हैं जो केवलज्ञान-द्वारा निर्णीत हुए हैं। उनका शरीर प्रशस्त लक्षणोंसे पूर्ण पूरो ऊँचाईको लिये हुए, अतीव उज्वल है। जन्माभिषेकादि कल्याणकोके अवसर पर वे जिस पूजातिशय-को प्राप्त हुए हैं उसे भो ध्यानमें लिया जाता है। संक्षेपमें जिन जिन विशेषणोंका उनके लिये प्रयोग हुआ है उन उनरूपसे उन्हें ध्यानमें देखा जाता है।

यहाँ अतिशयों तथा प्रातिहार्यों के नामादिकका निर्देश न करके एकका संख्या-सहित और दूसरेका बिना सख्याके ही बहु-वचनमें उल्लेख करके प्रकारान्तरसे उनके नाम तथा स्वरूपको अनुभवमें लेनेकी प्रेरणा की गई है। ये अतिशय और प्रातिहार्य सुप्रसिद्ध हैं, अनेकाऽनेक जैनग्रन्थोंमे इनके नामादिकका उल्लेख पाया जाता है। अतः ये अन्यत्रसे सहज हो जाने जासकते हैं।

अर्हन्तदेवके ध्यानका फल

[1]वीतरागोऽप्ययं देवो ध्यायमानो मुमुक्षिभिः।
स्वर्गाऽपवर्ग-फलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशी ॥१२६॥

'मुमुक्षुओंके द्वारा ध्यान किया गया यह अर्हन्तदेव वीतराग होते हुए भी उन्हें स्वर्ग तथा अपवर्ग-मोक्षरूप फलका देनेवाला है। उसकी वैसी शक्ति सुनिश्चित है।'

व्याख्या—जिस अर्हन्त परमात्माके ध्येयरूपका वर्णन इससे पूर्व पद्योंमें किया गया है उसके ध्यानका फल इस पद्यमें बतलाया है और वह फल है स्वर्ग तथा मोक्षको प्राप्ति। इस फलका दाता उस अर्हन्तदेवको हो लिखा है जो कि वीतराग है। वीतरागके

---

१. वीतरागोऽप्यसौ ध्येयो भव्यानां भवच्छिदे।
विच्छिन्नबन्धनस्याऽस्य तादृग्नैसर्गिको गुणः ॥(आर्ष २१-१२६)

रागमात्रका अभाव होजानेसे किसीको कुछ देने-दिलानेकी इच्छा-दिक नही होतो तब वह स्वर्ग-मोक्ष-फलका दाता कैसे ? यह प्रश्न पैदा होता है। इस प्रश्नके उत्तर-रूपमें ही **'शक्तिस्तस्य हि तादृशी'** इस वाक्यकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। और इसके द्वारा यह बतलाया गया है कि भले ही वीतरागके इच्छाका अभाव होजानेसे देने-दिलानेका कोई प्रयत्न न भी बनता हो, फिर भी उसमे ऐसी शक्ति है जिसके निमित्तसे विना इच्छाके ही उस फल-की प्राप्ति स्वत. होजाती है। वह शक्ति है कर्म-कलकके विनाश-द्वारा स्वदोषोकी शान्ति होजानेसे आत्मामे शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा रूप। जिसकी आत्मामे शान्तिकी पूर्णप्रतिष्ठा होजाती है वह विना इच्छा तथा विना किसी प्रयत्नके ही शरणागतको शान्ति-का विधाता होता है[1], उसी प्रकार जिस प्रकार कि शीतप्रधान-प्रदेश, जहाँ हिमपात होरहा हो, विना इच्छादिकके ही अपने शरणागतको शीतलता प्रदान करता है। अर्हत्परमात्माने घातिया-कर्मोंका नाश कर अपने भव-बन्धनोंका छेदन किया है, इसलिये उनके ध्यानसे दूसरोके भव-बन्धनोका सहज ही छेदन होता है; जैसा कि कल्याणमन्दिरके निम्नवाक्यसे जाना जाता है :—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥

प्रस्तुत ग्रन्थमे ही आगे बतलाया है कि अर्हत्सिद्धके ध्यानसे चरमशरीरीको तो मुक्तिकी प्राप्ति होती है, जो चरमशरीरी नही उसको ध्यानके पुण्य-प्रतापसे भोगोंकी प्राप्ति होती है। इससे

---

१. स्वदोष शान्त्या विहितात्मशान्तिः—शान्तेर्विधाता शरणं गतानां। स्वयभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

स्पष्ट है कि अर्हत्सिद्धके ध्यानका स्वाभाविक फल तो मोक्ष ही है, उसीके लिए वह ध्यान किया जाता है; जैसाकि **'निःश्रेयसाप्तये'** (१२८) इस पदके द्वारा व्यक्त किया गया है। परन्तु उसकी प्राप्तिमें दूसरा कारण जो चरमशरीर है वह यदि नहीं है तो फिर स्वर्गोमें जाना होता है, जहाँ अनुपम भोगोंकी प्राप्ति होती है; और इस तरह दोनों फल बनते हैं।

आचार्य-उपाध्याय-साधु-ध्येयका स्वरूप

सम्यग्ज्ञानादि-सम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहर्द्धयः[1] ।
[2]यथोक्त-लक्षणा ध्येया सूर्युपाध्याय-साधवः ॥१३०॥

'**जो सम्यग्ज्ञानादिसे सम्पन्न हैं**—सम्यग्ज्ञान, सम्यक्श्रद्धान और सम्यक्चारित्र जैसे सद्गुणोंसे समृद्ध हैं—, **जिन्हें सात महा-ऋद्धियाँ-लब्धियाँ** (समस्त अथवा व्यस्त-रूपमें) **प्राप्त हुई हैं और जो यथोक्त**—आगमोक्त—**लक्षणके धारक हैं, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधु ध्यानके योग्य हैं।**'

व्याख्या—सिद्ध और अर्हन्त इन दो परमेष्ठियोंके ध्येयरूपका निरूपण करनेके अनन्तर अब इस पद्यमें शेष आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेष्ठियोंकी ध्येयरूपताका निर्देश किया गया है। इस निर्देशमें 'सम्यग्ज्ञानादि सम्पन्नाः' यह विशेषणपद तो सबके लिये सामान्य है—आचार्यादि तीनों परमेष्ठी सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भले प्रकार युक्त होने ही चाहियें। '**यथोक्तलक्षणाः**' पद प्रत्येकके अलग-अलग आगमोक्त-लक्षणों-गुणोंका सूचक है; जैसे आचार्यके ३६, उपाध्यायके २५

---

१. बुद्धि तओ वि य लद्धी विकुव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रस-बल-अक्खीणा वि य लद्धीओ सत्त पण्णत्ता । (वसु० श्रा० ५१२)

२. म तथोक्तलक्षणाः ।

और साधुके २८ मूलगुण। 'प्राप्तसप्तमहर्द्धयः' विशेषण सात महाऋद्धियों (लब्धियो) की प्राप्तिका सूचक है, जिनके नाम हैं—१ बुद्धि, २ तप, ३ विक्रिया, ४ औषधि, ५ रस, ६ बल, ७ अक्षीण, और जो सब अनेक भेदोंमें विभक्त हैं। ये सब ऋद्धियाँ, जिनका भेद-प्रभेदो-सहित स्वरूप आगममें वर्णित है, सभी आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओंको प्राप्त नहीं होतीं—किसीको कोई ऋद्धि प्राप्त होती है तो किसीको दूसरी, किसीको एक ऋद्धि प्राप्त होती है तो किसीको अनेक और किसीको एक भी ऋद्धिकी प्राप्ति नहीं होती है। फिर भी चूँकि यहाँ आचार्यों आदिमेंसे किसी व्यक्ति-विशेषका ध्यान विवक्षित नहीं है, आचार्यादि किसी भी पद-विशिष्टको उसके ऊँचेसे ऊँचे आदर्श-रूपमे, ग्रहणकी विवक्षा है, इसलिये पदविशिष्टके ध्यानके समय सभी ऋद्धियोका सचिन्तन उसके साथमे आजाता है।

प्रकारान्तरसे ध्येयके द्रव्य-भावरूप दो ही भेद

एवं नामादि-भेदेन ध्येयमुक्तं चतुर्विधम्।
अथवा द्रव्य-भावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम् ॥१३१॥

'इस प्रकार नाम आदिके भेदसे ध्येय चार प्रकारका कहा गया है। अथवा द्रव्य और भावके भेदसे वह दो प्रकारका ही अवस्थित है।'

व्याख्या—यहाँ नामादि चतुर्विध ध्येयके कथनकी समाप्तिको सूचित करते हुए प्रकारान्तरसे ध्येयको द्रव्य और भाव ऐसे दो रूपमें ही अवस्थित बतलाया है। अगले पद्योंमें इन दो भेदोंको दृष्टिसे ध्यानके विषयभूत ध्येयका निरूपण किया गया है।

द्रव्यध्येय और भाव-ध्येयका स्वरूप

द्रव्य-ध्येयं बहिर्वस्तु चेतनाऽचेतनात्मकम् ।
भाव-ध्येयं पुनर्ध्येय[1]-सन्निभ-ध्यानपर्ययः ॥१३२॥

'चेतन-अचेतनरूप जो बाह्य वस्तु है वह सब द्रव्य ध्येयके रूपमें अवस्थित है और जो ध्येयके सदृश ध्यानका पर्याय है—ध्यानारूढ आत्माका ध्येय-सदृश परिणमन है—वह भाव-ध्येयके रूपमें परिगृहीत है।'

व्याख्या—इस द्विविध-ध्येय-प्ररूपणमें स्वात्मासे भिन्न जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, चाहे वे चेतन हों या अचेतन, सब द्रव्यध्येयकी कोटिमें स्थित हैं, और भावध्येयमें उन सब ध्यान-पर्यायोंका ग्रहण है जिनमें ध्याता ध्येयसदृश परिणमन करता है—ध्येयरूप धारण करके तद्वत् क्रिया करनेमें समर्थ होता है।

द्रव्यध्येयके स्वरूपका स्पष्टीकरण

ध्याने हि बिभ्रति[2] स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम् ।
आलेखितमिवाऽऽभाति ध्येयस्याऽसन्निधावपि ॥१३३॥

'ध्यानमें स्थिरताके परिपुष्ट हो जाने पर ध्येयका स्वरूप, ध्येयके संनिकट न होते हुए भी, स्पष्टरूपसे आलेखित-जैसा प्रतिभासित होता है—ऐसा मालूम होता है कि वह ध्याता आत्मामें अंकित है अथवा चित्रित हो रहा है।'

व्याख्या—यहाँ, द्रव्यध्येयके स्वरूपको स्पष्ट करते हुए, यह बतलाया है कि जब द्रव्यध्येयका रूप ध्यानमें पूरी तरह स्थिरताको प्राप्त होता है तब वह ध्येयके वहाँ मौजूद न होते हुए भी आत्मामें उत्कीर्ण-कोलित अथवा प्रतिबिम्बित-जैसा प्रतीत होता है।

---

१. मु पुनर्ध्येय । २. मु विभ्रते ।

द्रव्यध्येयको पिण्डस्थध्येयकी संज्ञा

[1]ध्यातुः पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
[2]ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन[3] ॥१३४॥

'ध्येयपदार्थ चूँकि ध्याताके शरीरमें स्थितरूपसे ही ध्यान-का विषय किया जाता है इसलिये कुछ आचार्य उसे 'पिण्डस्थ-ध्येय' कहते हैं।'

व्याख्या—इस द्रव्यध्येयको कुछ आचार्योंके मतानुसार-पिण्डस्थध्येय' भी कहते हैं और उसका कारण यह है कि वह द्रव्यध्येय ध्याताके शरीरसे बाहर नहीं किन्तु उसके शरीरमें स्थित-जैसा ध्यानका विषय बनाया जाता है। किन पूर्ववर्ती आचार्योंका ऐसा युक्तिपुरस्सर मत है यह बात अनुसंधान-द्वारा स्पष्ट किये जानेके योग्य है। हाँ, श्रीपद्मसिंह मुनिने अपने 'ज्ञानसार' ग्रन्थ (स० १०८६) में ऐसे ध्यानके विषयभूत ध्येयको पिण्डस्थध्येयके रूपमें उल्लेखित ज़रूर किया है, जैसा कि उसकी निम्न दो गाथाओसे प्रकट है :—

णिय-णाहि-कमलमज्झे परिट्ठियं विप्फुरत-रवितेयं ।
झाएह अरुहरूवं झाणं त मुणह पिण्डत्थ ॥१९॥
झायह णिय-कुरमज्झे भालयलेहिय-कंठ-देसम्मि ।
जिणरूवं रवितेय पिंडत्थं मुणह झाणमिणं ॥२०॥

ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थोमें पिण्डस्थध्यानको पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसी पांच धारणाओंके रूपमें ही वर्णित किया है।[4]

---

१. मु धातुपिण्डे स्थितेश्चैव । २. मु ध्येयपिण्डस्थ । ३. मु केवलं ।

४. "पिण्डस्थं पच विज्ञेया धारणा वीर-वर्णिताः ।
पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना चाऽथ वारुणी ।
तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥" (ज्ञाना० ३७-२-३)
"पार्थिवी स्यादाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्र(त्त्व)भूः पचमी चेति पिण्डस्थे पंच धारणाः ॥"(योगशा० ७-९)

भावध्येयका स्पष्टीकरण

यदा ध्यान-बलाद्ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम् ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् सम्पद्यते स्वयम् ॥१३५॥
तदा तथाविध-ध्यान-संवित्ति-ध्वस्त-कल्पनः ।
[1]स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः ॥१३६॥

'जिस समय ध्याता ध्यानके बलसे अपने शरीरको शून्य बनाकर ध्येयस्वरूपमें आविष्ट-प्रविष्ट होजानेसे अपनेको तत्सदृश बना लेता है उस समय उस प्रकारकी ध्यान-संवित्तिसे भेद-विकल्पको नष्ट करता हुआ वह ही परमात्मा, गरुड़ अथवा काम देव हो जाता है—परमात्मस्वरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे परमात्मा, गरुड़रूपको ध्यानाविष्ट करनेसे गरुड़ और कामदेवके स्वरूपको ध्यानाविष्ट करनेसे कामदेव बन जाता है।

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१३२)में भाव-ध्येयका जो स्वरूप ध्यानारूढ आत्माका ध्येय-सदृश परिणमन बतलाया गया है उसीके स्पष्टीकरणको लिये हुए ये दोनों पद्य हैं। इनमें यह दर्शाया है कि जिस समय ध्याता ध्यानाऽभ्यासके सामर्थ्यसे अपने शरीरको शून्य (सुन्न) बना लेता है—उस पर बाह्य पदार्थका असर नहीं होता—और ध्येयके स्वरूपको अपनेमें आविष्ट कर लेनेसे तत्सदृश हो जाता है उस समय वह उस प्रकारके तद्रूप ध्यानकी अनुभूतिसे ध्याता और ध्येयके भेद-भावको मिटा देता है और इस तरह जिसका ध्यान करता है भावसे उस रूप हो जाता तथा उस रूप क्रिया करने लगता है। यहाँ ध्येयमें उदाहरण-रूप परमात्मा, गरुड़ और कामदेवको रक्खा गया है, इनमेंसे जिस ध्येयका भी ध्यान हो ध्याता उसी रूप बन जाता और क्रिया करने लगता है, यही भावध्येयका सार है।

---

१. जं परमप्पय तच्चं तमेव विष-काम-तत्तमिह भणियं ॥४८॥
—ज्ञानसारे—पद्मसिंहः

इस विषयका दूसरा कितना ही वर्णन एवं संसूचन समरसी-भावकी सफलताको प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थमें कुछ पद्योंके बाद आगे दिया है[1]।

यहाँ 'स एव परमात्मा स्याद्वैनतेयश्च मन्मथः' यह वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। इसके द्वारा उन शिव, गरुड़, तथा काम नामके तीन तत्त्वोकी सूचना की गई है जिन्हें जैनेतर योगीजन अपने ध्यानका मुख्य विषय बनाते हैं और जिनके विषय-का स्पष्टीकरण एवं महत्वपूर्ण वर्णन 'ज्ञानार्णव' के 'त्रितत्व-प्ररूपण' नामक २१ वें प्रकरणमें, आत्माकी अचिन्त्यशक्ति-सामर्थ्यका ख्यापन करते हुए, गद्य-द्वारा किया गया है। साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनो तत्त्व आत्मासे भिन्न कोई जुदे पदार्थ नही हैं—ससारस्थ आत्माके ही शक्ति-विशेष हैं; जैसा कि उसके निम्न पद्य तथा गद्यसे स्पष्ट है —

"शिवोऽयं वैनतेयश्च स्मरश्चात्मैव कीर्तितः।
अणिमादि-गुणाऽनर्घ्यरत्नवार्धिर्बुधैर्मतः" ॥६॥

"तदेव यदिह जगति शरीरविशेषसमवेत किमपि साम-र्थ्यमुपलभामहे तत्सकलात्मन एवेति विनिश्चयः। आत्मप्रवृत्ति-परपरोत्पादितत्वाद्विग्रह-ग्रहणस्येति।"

समरसीभाव और समाधिका स्वरूप

[2]सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
एतदेव समाधिः स्याल्लोक-द्वय-फल-प्रदः ॥१३७॥

---

१. देखो, पद्य १६७ से २१२।

२. "सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम्।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥ (ज्ञाना० ३१-३८)
"सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण मतं।
आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ (योगशास्त्र १०-४)
"ध्यातृ-ध्यानोभयाऽभावे ध्येयेनैक्यं यदा व्रजेत्।
सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं मत ॥ (योगप्रदीप ६५)

'उन दोनों ध्येय और ध्याताका जो यह एकीकरण है वह समरसीभाव, माना गया है, यही एकीकरण समाधिरूप ध्यान है, जो इन दोनों लोकके फलको प्रदान करनेवाला है।'

व्याख्या—यह भावध्येय, जिसमें ध्याता अपना पृथक् अस्तित्व भुला कर ध्येयमें ऐसा लीन हो जाता है कि तद्रूप-क्रिया करने लगता है, समरसीभाव कहलाता है। इसीका नाम वह समाधि है जिससे इस लोकसम्बन्धी तथा परलोकसम्बन्धी दोनों प्रकारके फलोंकी प्राप्ति होती है।

द्विविध-ध्येयके कथनका उपसंहार

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥१३८॥

'इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या? इस समस्त ध्येयका स्वरूप वस्तुतः जानकर तथा श्रद्धानकर उसमें मध्यस्थता-वीतरागता धारण करनेवालेको उसे अपने ध्यानका विषय बनाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ प्रकारान्तरसे निर्दिष्ट हुए द्विविधध्येयके कथनका उपसंहार करते हुए साररूपमें इतना ही कहा गया है कि वह सब वस्तु इस ध्येयकी कोटिमें स्थित है जिसे यथार्थरूपसे जानकर और श्रद्धान करके उसमें राग-द्वेषादिके अभावरूप मध्यस्थ-भावको धारण किया गया हो। इस कथन-द्वारा प्रस्तुत ध्येयके मौलिक सिद्धान्तका निरूपण किया गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार कोई भी बाह्य वस्तु ध्यानका विषय बनाई जा सकती है बशर्ते कि उसके यथार्थ स्वरूपके परिज्ञान और श्रद्धानके साथ काम-क्रोध-लोभादिकी निवृत्तिरूप समताभाव, उपेक्षाभाव या वीतरागभाव जुड़ा हो। इसी आशयको लिये हुए कुछ पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमें लेने योग्य हैं:—

[1]ध्येयं स्याद्वीतरागस्य विश्ववर्त्यर्थसंचयम् ।
तद्धर्मव्यत्ययाभावात्माध्यस्थ्यमधितिष्ठतः ॥
[2]वीतरागो भवद्योगी यत्किंचिदपि चिन्तयेत् ।
तदेव ध्यानमाम्नातमतोऽन्यद् ग्रन्थ-विस्तरः ॥
[3]जं किंचिवि चिंततो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूण य एयत्तं तदा हु तस्स तं णिच्छयं झाणं ॥

इनमेंसे प्रथम वाक्य (पद्य)में यह बतलाया है कि विश्ववर्ती सारा पदार्थसमूह उस वीतराग-साधुके ध्यानका विषय है जो ध्येयके स्वरूपमे विपरीतताके अभावसे उसमें मध्यस्थताको धारण किये हुए है। दूसरेमें यह प्रतिपादित किया है कि योगी वीतराग होता हुआ जो कुछ भी चिन्तन करता है वह सब ध्यान है। इस सक्षिप्त कथनसे भिन्न अन्य सब ग्रन्थका विस्तार है। और तीसरेमें यह दर्शाया है कि चाहे जिस पदार्थका चिन्तन करता हुआ साधु जब एकाग्र होकर निरीहवृत्ति (वीतराग या मध्यस्थ) हो जाता है तब उसके निश्चयध्यान बनता है।

माध्यस्थ्यके पर्यायनाम

माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा[4] ।
वैतृष्ण्यं प्रशमः[5] शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते ॥१३९॥

'माध्यस्थ्य (मध्यस्थता), समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा (निःस्पृहता), वैतृष्ण्य (तृष्णाका अभाव), प्रशम और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए हैं।'

---

१. २. ये दोनों पद्य ज्ञानार्णवके ३८ वें प्रकरणमें ११३ वें पद्यके अनन्तर 'उक्तं च' 'पुनः उक्तं च' रूपसे उद्धृत हैं।

३. यह द्रव्यसंग्रहका ५५ वां पद्य है।

४. मु मस्पृहः । ५. मु परमः ।

व्याख्या—यहाँ माध्यस्थ्यके पर्याय नाम दिये गये हैं। इससे पूर्व पद्यमें ध्याताको ध्येयके प्रति माध्यस्थ्य धारणकी जो बात कही गई है वह इन सब शब्दोंके आशयको लिये हुए समझनी चाहिये। इन उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, वितृष्णा, प्रशम और शान्ति शब्दोंके द्वारा माध्यस्थ्यका विषय बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। ये सब शब्द संज्ञाकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी अर्थकी दृष्टिसे वस्तुतः एक ही मूल आशयको लिये हुए हैं। अतः इनमेंसे किसीका भी कहीं प्रयोग होने पर, प्रकरणको ध्यानमें रखते हुए, दूसरे किसी शब्दके द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

जो संज्ञा-शब्द होते हैं वे अपने-अपने बाह्य अर्थको साथ लिये रहते हैं[1]। जिन संज्ञा-शब्दोंके बाह्यार्थ परस्परमें एक दूसरेके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखते हैं वे सब एकार्थ कहे जाते हैं। अथवा यों कहिये कि प्रत्येक वस्तुमें अनेक गुण, धर्म, शक्ति, विशेष या अंश होते हैं, उन सबको एक ही शब्दके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता—शब्दमें उतनी शक्ति ही नहीं है। इसीसे विवक्षित गुण-धर्मादिको यथावसर व्यक्त करनेके लिये तत्तत् शक्तिविशिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, यही एक वस्तुके अनेक नाम होनेका प्रधान कारण है। इसीसे उक्त नौ नाम भिन्न होते हुए भी सर्वथा भिन्न नहीं हैं—वास्तविक अर्थकी दृष्टिसे एक ही हैं[2]। विशेष व्याख्याके द्वारा इन सबके एकार्थको भले प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ समानार्थक संज्ञा शब्द

---

1. जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्। —देवागमे, समन्तभद्रः

2. संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण-विशेषतः।
प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥

—देवागमे, समन्तभद्रः

इनके साथ और भी जोड़े जा सकते हैं जैसे उदासीनता, वीत-रागता, राग-द्वेष-विहीनता, लालसा-विमुक्ति, अनासक्ति आदि। श्रीपद्मनन्दिआचार्यने 'एकत्वसप्तति' में 'साम्य' के साथ स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोगको भी एकार्थक बतलाया है[1]।

परमेष्ठियोंके ध्याए जाने पर सब कुछ ध्यात

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात्परमागमे।
तत्सर्वं ध्यातमेव[2] स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिषु ॥१४०॥

'यहाँ—इस शास्त्रमें—जो कुछ संक्षेपरूपसे कहा गया है उसे परमागममें विस्ताररूपसे बतलाया है। पंचपरमेष्ठियोंके ध्याये जाने पर वह सब ही ध्यातरूपमें परिणत हो जाता है—उसके पृथक्रूपसे ध्यानकी जरूरत नहीं रहती अथवा पंचपरमेष्ठियोंका ध्यान कर लिए जानेपर सभी श्रेष्ठ व्यक्तियों एवं वस्तुओंका ध्यान उसमें समाविष्ट हो जाता है।'

व्याख्या—इस पद्यमें यह सूचना की गई है कि व्यवहारनयकी दृष्टिसे ध्येयके विषयमें जो कुछ कथन सक्षेपरूपसे ऊपर कहा गया है उसका विस्तारसे कथन परमागममें है, विस्तारसे जाननेकी इच्छा रखनेवालोंको उसके लिये आगमग्रन्थोंको देखना चाहिये। साथ ही यह भी सूचित किया है कि अर्हन्तादि पंचपरमेष्ठियोके ध्यानमें इस प्रकारके ध्यानका सब कुछ विषय आजाता है और यह सब ठीक ही है; क्योंकि पाँचों परमेष्ठियोके वास्तविक ध्यानके बाद ऐसा कोई विषय ध्यानके लिए अवशिष्ट नही रहता, जो आत्म-विकासमे विशेष सहायक हो।

---

१. साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥६४॥

२. मु मे ध्यानमेव।

निश्चय-ध्यानका निरूपण

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम् ।
निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरूप्यते ॥१४१॥

'इस प्रकार व्यवहारनयकी दृष्टिसे यह पराश्रितध्यान कहा गया है। अब निश्चयनयकी दृष्टिसे जो स्वात्मालम्बनरूप ध्यान है उसका निरूपण किया जाता है।'

व्याख्या—यहाँ व्यवहारनयाश्रित उस परालम्बनरूप भिन्न-ध्यानके कथनकी समाप्तिको सूचित किया है जिसका प्रारम्भ 'आज्ञापायौ' इत्यादि पद्य (९८) से किया गया था। साथ ही आगेके लिये निश्चयनयाश्रित स्वात्मालम्बन-रूप ध्यानके कथनकी प्रतिज्ञा की है, जिसका उद्देश्यरूपमें निर्देश पहले (पृ० ९६ में) आ चुका है।

ब्रुवता ध्यान-शब्दार्थं यद्रहस्यमवादि तत्[1] ।
तथापि स्पष्टमाख्यातुं पुनरप्यभिधीयते ॥१४२॥

'यद्यपि ध्यानशब्दके अर्थको बतलाते हुए (इस विषयमें) रहस्यकी जो बात थी वह कही जा चुकी है तो भी स्पष्टरूप व्याख्याकी दृष्टिसे उसे (यहाँ) फिरसे कहा जाता है।'

व्याख्या—ध्यानके जिस पूर्वकथनकी यहाँ सूचना की गई है वह ग्रन्थमें 'ध्यायते येन तद्ध्यान' इस ६७वें पद्यसे प्रारम्भ होकर 'स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन' नामक ७४ वें पद्य तक दिया हुआ है। वह सब कथन निश्चयनयकी दृष्टिको लिये हुए है; यहाँ भी उसी दृष्टिसे कुछ विशेष एवं स्पष्ट कथन करनेकी विज्ञापना की गई है।

---

१. मु मे मवादि सद् ।

विध्यासुः[1] स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थितं[2] ।
विहायाऽन्यदनर्थित्वात् स्वमेवाऽवैतु पश्यतु ॥१४३॥

'जो स्वावलम्बी निश्चयध्यान करनेका इच्छुक है वह स्वको और परको यथावस्थित-रूपमें जान कर तथा श्रद्धान कर और फिर परको निरर्थक होनेसे छोड़कर स्वको (अपने आत्मा-को) ही जानो और देखो।'

व्याख्या—यहाँ स्वके साथ परके यथार्थज्ञान-श्रद्धानको जो बात कही गई है वह अपना खास महत्व रखती है। जब तक परका यथार्थ-बोधादिक नहीं होता तब तक उसको स्वसे भिन्न एवं अनर्थक समझकर छोड़ा नहीं जाता और जब तक परसे छुटकारा नहीं मिलता तब तक स्वात्मालम्बन-रूप निश्चय-ध्यानमें यथार्थ-प्रवृत्ति नहीं बनती।

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।
तत्रैकाग्र्यं[3] समासाद्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१४४॥

'अतः पहले श्रुत (आगम) के द्वारा अपने आत्मामें आत्म-संस्कारको आरोपित करे—आगममें आत्माको जिस यथार्थरूपमें वर्णित किया है उस प्रकारको भावनाओं-द्वारा उसे संस्कारित करे—तदनन्तर उस संस्कारित स्वात्मामें एकाग्रता (तल्लीनता) प्राप्त करके और कुछ भी चिन्तन न करे।'

व्याख्या—यहाँ निश्चयध्यानकी यथार्थसिद्धिके लिये पहले आत्माको श्रुतकी भावनाओंसे संस्कारित करनेकी बात कही गई है, जिससे आत्माको अपने स्वरूपके विषयमें सुदृढताकी

---

१. मु दिधासु। २. मु यथास्थिति।
३. मु मे तत्रैकाग्रं।

प्राप्ति हो और वह अन्य चिन्ता छोड़कर अपनेमें ही लीन हो सके। और यह बात बड़े ही महत्वकी है, जिसे अगले दो पद्योंमें स्पष्ट किया गया है।

श्रौती-भावनाका अवलम्बन न लेनेसे हानि

[1]यस्तु नालम्बते[2] श्रौतीं भावनां कल्पना-भयात् ।
सोऽवश्यं मुह्यति स्वस्मिन्बहिश्चिन्तां बिभर्ति च ॥१४५

'जो ध्याता कल्पनाके भयसे श्रौती (श्रुतात्मक) भावनाका आलम्बन नहीं लेता वह अवश्य अपने आत्म-विषयमें मोहको प्राप्त होता है और बाह्य चिन्ताको धारण करता है।'

व्याख्या—जो ध्याता निर्विकल्प-ध्यान न बन सकनेके भयसे पूर्वावस्थामे भी श्रौती भावनाको, जो कि सविकल्प होती है, नही अपनाता वह मोहसे अभिभूत अथवा दृष्टिविकारको प्राप्त होता है[3] और बाह्य-पदार्थोंकी चिन्तामें भी पड़ता है। इससे उसे सबसे पहले श्रौती-भावनाके संस्कार-द्वारा अपने आत्माको उसके स्वरूप-विषयमें सुनिश्चित और सुदृढ बनाना चाहिये, तभी निर्विकल्प-ध्यान अथवा समाधिकी बात बन सकेगी।

श्रौती-भावनाकी दृष्टि

तस्मान्मोह-प्रहाणाय बहिश्चिन्ता-निवृत्तये ।
स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमेकाग्र्यस्य[4] च सिद्धये ॥१४६॥

---

१. सि जु प्रतियोंमें यह पद्य १४८ वें पद्यके बाद दिया है, जो ठीक नहीं है।

२. मु० नालम्ब्यते।

३. गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्ज।
जो ण हु सुयमवलम्बइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे ॥
—अन० टी० २-१ तथा इष्टो० टी० में उद्धृत

४. मु मेकाग्रस्य

'अतः मोहका विनाश करने, बाह्यचिन्तासे निवृत्त होने और एकाग्रताकी सिद्धिके लिये ध्याता पहले स्वात्माको श्रौती-भावनासे भावे—संस्कारित करे।'

व्याख्या—जब श्रौती-भावना का आलम्बन न लेनेसे मोह-को प्राप्त होना तथा बाह्य चिन्तामें पड़ना अवश्यंभावी है तब मोहके विनाश तथा बाह्य-चिन्ताकी निवृत्तिके लिये और एका-ग्रताकी सिद्धिके लिये अपने आत्माको पहले श्रौती-भावनासे भावित अथवा संस्कारित करना चाहिए। ऐसी यहाँ सातिशय प्रेरणा की गई है और इससे श्रौती-भावनाकी दृष्टि तथा उसका महत्व स्पष्ट होजाता है।

श्रौती-भावनाका रूप

तथा हि चेतनोऽसंख्य-प्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्ध-रूपोऽस्मि ज्ञान-दर्शन-लक्षणः[1] ॥१४७॥

'वह श्रौतीभावना इस प्रकार है :—

'मैं चेतन हूँ, असंख्यप्रदेशी हूँ, मूर्तिरहित-अमूर्तिक हूँ' सिद्धसदृश शुद्धात्मा हूँ और ज्ञान-दर्शन लक्षणसे युक्त हूँ।

व्याख्या—यहाँ आत्मा अपने वास्तविक रूपकी भावना कर रहा है, जोकि चेतनामय है, असंख्यातप्रदेशी है, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप मूर्तिसे रहित अमूर्तिक है, सिद्धोके समान शुद्ध है और ज्ञान-दर्शन-लक्षणसे लक्षित है। ज्ञान और दर्शन गुणोंको जो लक्षण कहा गया है वह इसलिये कि ये उसके व्यावर्तक गुण हैं—अन्य सब पदार्थोंसे आत्माका स्पष्ट भिन्नबोध कराने वाले हैं। तत्त्वार्थसूत्रमे 'उपयोगो लक्षणं' सूत्रके द्वारा जीवात्माका जो उपयोग लक्षण दिया है वह भी इन दोनोका सूचक है। क्योंकि

---

१. एगो मे सस्सदो आदा णाण-दंसण-लक्खणो
　　　　　　　　　　　　नियमसारे, कुन्दकुन्दः

उपयोगके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ऐसे दो मूलभेद किये गये हैं; जिनमें ज्ञानोपयोगके आठ और दर्शनोपयोगके चार उत्तर-भेद हैं; जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रके 'स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः' इत्यादि अगले सूत्रोंसे जाना जाता है।

'नाऽन्योऽस्मि नाऽहमस्त्यन्यो नाऽन्यस्याऽहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाऽहमन्योऽन्यस्याऽहमेव मे ॥१४८॥

'मैं अन्य नहीं हूँ, अन्य मैं (आत्मा) नहीं है। मैं अन्यका नहीं न अन्य मेरा है। वस्तुतः अन्य अन्य है, मैं ही मैं हूँ, अन्य अन्यका है और मैं ही मेरा हूँ।'

व्याख्या—यहाँ, स्व-परके भेद-भावको दृढ़ करते हुए, आत्मा भावना करता है—'मैं किसी भी पर-पदार्थरूप नहीं हूँ; कोई परपदार्थ मुझ-रूप नहीं है; मैं पर-पदार्थका कोई सम्बन्धी नहीं हूँ, न पर-पदार्थ मेरा कोई सम्बन्धी है। वस्तुतः पर-पदार्थ पर ही है, मैं मैं ही हूँ; पर-पदार्थ परका सम्बन्धी है, मैं ही मेरा सम्बन्धी हूँ।'

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम्।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥१४९॥

'शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ; (क्योंकि) मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है, यह शरीर अनेकरूप है, मैं एकरूप हूँ, यह क्षयी (नाशवान्) है, मैं अक्षय (अविनाशी) हूँ।'

---

१. मामन्यमन्यं मां मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नाऽन्योऽहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥ (आत्मानु० २४३)

व्याख्या—यहाँ शरीरसे आत्माके भिन्नत्वकी भावना की गई है और उसके मुख्य तीन रूपोंको लिया गया है—१ चेतन-अचेतन-का भेद, २ एक-अनेकका भेद, ३ और क्षयी-अक्षयीका भेद। इन तीनो भेदोंको अनेक प्रकारसे अनुभवमें लाया जाता है। आत्मा चेतन है—ज्ञान-स्वरूप है, शरीर अचेतन है—ज्ञान-रहित जड़रूप है; शरीर अनेकरूप है—अनेक ऐसे पदार्थों तथा अंगोंके संयोगसे बना है, जिन्हें भिन्न किया जा सकता है, आत्मा वस्तुतः अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे एक है, जिसमे किसी पदार्थका मिश्रण नहीं और न जिसका कोई भेद अथवा खण्ड किया जा सकता है; शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है—यदि एक दो दिन भी भोजनादिक न मिले तो स्पष्ट क्षीण दिखाई पड़ता है, जबकि आत्मा क्षयरहित है—अविनाशी है, कोई भी प्रदेश उसका कभी उससे जुदा नहीं होता, भले ही भवान्तर-ग्रहणादिके समय उसमें संकोच-विस्तार होता रहे और ज्ञानादिक गुणों पर आवरण भी आता रहे; परन्तु वे गुण कभी आत्मासे भिन्न नहीं होते।

अचेतनं [1]भवेन्नाऽहं नाऽहमप्यस्म्यचेतनम्[2]।
ज्ञानात्माऽहं न मे कश्चिन्नाऽहमन्यस्य कस्यचित् ॥१५०

'अचेतन मैं (आत्मा) नहीं होता; न मैं अचेतन होता हूँ; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ; मेरा कोई नहीं है, न मैं किसी दूसरे का हूँ।'

व्याख्या—यहाँ आत्मा यह भावना करता है कि कोई भी अचेतन पदार्थ कभी आत्मा (मैं) नहीं बनता और न आत्मा (मैं) कभी किसी अचेतन पदार्थके रूपमें परिणमन करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दूसरा कोई भी पदार्थ उसका अपना नहीं और न वह किसी दूसरे पदार्थका कोई अग अथवा सम्बन्धी है।

---

१. मु भवे नाहं। २. मु आ मप्यस्त्यचेतनं।

यहाँ तथा आगे पीछे जहाँ भी 'अहं' (मैं) शब्दका प्रयोग हुआ है वह सब आत्माका वाचक है।

योऽत्र स्व-स्वामि-सम्बन्धो ममाऽभूद्वपुषा सह ।
यस्त्वेकत्व-भ्रमस्सोऽपि परस्मान्न स्वरूपतः ॥१५१॥

'इस संसारमें मेरा शरीरके साथ जो स्व-स्वामि-सम्बन्ध हुआ है—शरीर मेरा स्व और मैं उसका स्वामी बना हूँ—तथा दोनोंमें एकत्वका जो भ्रम है वह सब भी परके निमित्तसे है, स्वरूपसे नहीं।'

व्याख्या—यहाँ 'परस्मात्' पदके द्वारा जिस पर-निमित्तका उल्लेख है वह नामकर्मादिकके रूपमें अवस्थित है, जिससे शरीर तथा उसके अंगोपांगादिकी रचना होकर आत्माके साथ उसका सम्बन्ध जुड़ता है और जिससे शरीर तथा आत्मामें एकत्वका भ्रम होता है वह दृष्टि-विकारोत्पादक दर्शनमोहनीय कर्म है। इस पर-निमित्तकी दृष्टिसे ही व्यवहारनय-द्वारा यह कहनेमें आता है कि 'शरीर मेरा है'। अन्यथा आत्माके स्वरूपकी दृष्टि-से शरीर आत्माका कोई नहीं और न वस्तुतः उसके साथ एक-मेकरूप तादात्म्य-सम्बन्धको ही प्राप्त है—मात्र कर्मोंके निमित्त-से संयोग-सम्बन्धको लिये हुए है, जिसका वियोग अवश्यंभावी है। यह सब इस श्रौती-भावनामें आत्मा चिन्तन करता है और इसके द्वारा शरीरके साथ स्व-स्वामि-सम्बन्ध तथा एकत्वके भ्रमको दूर भगाता है।

जीवादि-द्रव्य-याथात्म्य-[1]ज्ञानात्मकमिहाऽऽत्मना ।
पश्यन्नात्मन्यथाऽऽत्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥१५२॥

---

[1] मु ज्ञातात्मक।

'मैं इस संसारमें जीवादि-द्रव्योंकी यथार्थताके ज्ञानस्वरूप आत्माको आत्माके द्वारा आत्मामें देखता हुआ (अन्य) वस्तुओंमें उदासीन रहता हूं—उनमें मेरा कोई प्रकारका रागादिक भाव नहीं है।'

व्याख्या—इस श्रौती-भावनामें आत्मा अपनेमें स्थित हुआ अपने द्वारा अपने आपको इस रूपमें देखता है कि वह जीवादि-द्रव्योंके यथार्थ-ज्ञानको लिये हुए है, और इस प्रकार देखता हुआ वह अन्य पदार्थों से स्वतः विरक्तिको प्राप्त होता है—उनमें उसकी रुचि नही रहती।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाऽप्युदासीनः।
स्वोपात्त-देहमात्रस्ततः परं[1] गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

'मैं सदा सत् द्रव्य हूं; चिद्रूप हूं, ज्ञाता-दृष्टा हूं, उदासीन हूं, स्वग्रहीत देह परिमाण हूं और शरीर-त्यागके पश्चात् आकाशके समान अमूर्तिक हूं।'

व्याख्या—इस श्रौतीभावनामे आत्मा अपनेको सद्द्रव्य, चिद्द्रव्य और उदासीनरूप कैसे अनुभव करता है, इसका स्पष्टी-करण अगले पद्योमे किया गया है। ज्ञाता-दृष्टा पदोंका वाच्य स्पष्ट है। '**स्वोपात्तदेहमात्र**' इस पदके द्वारा आत्माके आकारकी सूचना की गई है। ससार-अवस्थामे आत्मा जिस शरीरको ग्रहण करता है उस शरीरके आकार-प्रमाण आत्माका आकार रहता है। शरीरका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर मुक्ति-अवस्थामें यद्यपि आत्मा आकाशके समान अमूर्तिक हो जाता है परन्तु आकाशके समान अनन्तप्रदेशी नहीं हो जाता, उसके प्रदेशोंकी सख्या असख्यात ही रहती है और वे असंख्यातप्रदेश भी सारे

---

१ सि जु देहमात्रः स्मृतः पृथग्।

लोकाकाशमें व्याप्त होकर लोकाकाशरूप आकार नहीं बनाते। किन्तु आकार आत्माका प्राय: अन्तिम शरीरके आकार-जितना ही रहता है; क्योंकि आत्म-प्रदेशोंमें संकोच और विस्तार कर्मके निमित्तसे होता था, जब कर्मोंका अस्तित्व नहीं रहता तब आत्माके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार सदाके लिये रुक जाता है। इसी बातको ग्रन्थमें आगे 'पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ' इत्यादि पद्यो (२३२, २३३) के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

[1]सन्नेवाऽहं सदाऽप्यस्मि स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असन्नेवाऽस्मि चात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥१५४॥

'**स्वरूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे**—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे—**मैं सदा सत्‌रूप ही हूँ और पर-स्वरूपादिकी दृष्टिसे**—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—**अत्यन्त असत्‌रूप ही हूँ।**'

व्याख्या—पिछले पद्यमें '**सद्द्रव्यमस्मि**' यह जो भावना-वाक्य दिया है उसीके स्पष्टीकरणरूपमें इस पद्यका अवतार हुआ है। यहाँ आत्मद्रव्य सत्‌रूप ही नही किन्तु असत्‌रूप भी है, इसका सहेतुक प्रतिपादन किया है, लिखा है कि—आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा सत्‌रूप ही है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा असत्‌रूप ही है। इस कथनका पूर्वकथनके साथ कोई विरोध नही है; क्योंकि आत्माको सत् और असत् दोनों रूप बतलाना अपेक्षा-भेदको लिए हुए है—एक ही अपेक्षासे सत् तथा असत्-रूप नहीं कहा गया है। वास्तवमें इस सत् (अस्ति) और असत् (नास्ति) का परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है—एकके विना

---

१. सन्नेवाऽहं मया वेद्यं स्वद्रव्यादि-चतुष्टयात्।
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मत्वादसन्नेव विपर्ययात् ॥—अध्यात्मरहस्य ३१

दूसरेका अस्तित्व बनता[1] नही। इसीसे सत्के स्पष्टीकरणमें उसके सत्-असत् दोनो रूपोंको दिखाया गया है।

यहाँ सत्के विषयमें स्वामी समन्तभद्रकी प्रतिक्षण-ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मक–दृष्टिसे भिन्न उन्हीकी दूसरी स्वद्रव्यादि-चतुष्टयकी दृष्टिको अपनाया गया है, जैसा कि उनके देवागम-गत निम्न-वाक्यसे स्पष्ट जाना जाता है :—

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

इसमें बतलाया है कि सर्वद्रव्य स्वरूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे–स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे—सत्रूप ही हैं और पर-रूपादि-चतुष्टयकी दृष्टिसे—परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षासे –असत्रूप ही हैं। यदि ऐसा नही माना जायगा तो सत्-असत् दोनोमे किसीकी भी व्यवस्था नही बन सकेगी; क्योंकि दोनों परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिए हुए है—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व नही बनता। स्वरूपादि-चतुष्टयरूप सत्द्रव्य यदि पर-द्रव्यादि-चतुष्टयके अभावको अपनेमे लिये हुए नही है तो उसके स्वरूपकी कोई प्रतिष्ठा ही नही बनती और न तब ससारमे किसी वस्तुकी व्यवस्था ही बन सकती है।

यन्न चेतयते किंचिन्नाऽचेतयत् किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नाऽस्म्यहम् ॥१५५॥

'जो कुछ चेतता-जानता नहीं, जिसने कुछ चेता-जाना नहीं और जो कुछ चेतेगा-जानेगा नहीं वह शरीरादिक मैं नहीं हूँ।'

---

१. जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्नवाक्योसे विदित है-
'अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया ॥१७॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ॥१८॥

व्याख्या—पिछले पद्य (१५३) में '**चिदहं**' और उससे कुछ पूर्ववर्ती पद्य (१४६) में '**चिदहं तदचेतनम्**' इन पदोंका जो प्रयोग हुआ है, उन्हींके स्पष्टीकरणको लिये हुए यह पद्य है। इसमें शरीरको लक्ष्य करके कहा गया है कि वर्तमानमें वह कुछ जानता नही, भूतकालमें उसने कभी कुछ जाना नही और भविष्यमें वह कभी कुछ जानेगा नही, ऐसी जिसकी वस्तुस्थिति है वह शरीर मैं (आत्मा) नही हूँ। 'आदि' शब्दसे तत्सदृश और भी जितने अचेतन (जड) पदार्थ हैं उनरूप भी मैं (आत्मा) नहीं हूँ।

[1]यदचेतत्तथा[2]पूर्वं चेतिष्यति यदन्यथा[3] ।
चेततीत्थं[4]यदत्राऽद्य तच्चिद्द्रव्यं समस्म्यहम् ॥१५६॥

'जिसने पहले उस प्रकारसे चेता–जाना है, जो (भविष्यमें) अन्य प्रकारसे चेतेगा–जानेगा और जो आज यहाँ इस प्रकारसे चेतता–जानता है वह सम्यक् चेतनात्मक द्रव्य मैं हूँ।'

व्याख्या—यहाँ चिद्द्रव्यकी सत्दृष्टिको प्रधान कर कहा गया है कि जिसने भूतकालमे उस प्रकार जाना, जो भविष्यमे अन्य प्रकार जानेगा और जो वर्तमानमें इस प्रकार जान रहा है वह चेतनद्रव्य मैं (आत्मा) हूँ। चेतनाकी धारा आत्मामें शाश्वत चलती है, भले ही आवरणोंके कारण वह कहीं और कभी अल्पाधिक रूपमें दब जाय; परन्तु उसका अभाव किसी समय भी नहीं होता। कुछ प्रदेश तो उसमें ऐसे हैं जो सदा अनावरण ही बने रहते है और इसलिये आत्मा चित्स्वरूपकी दृष्टिसे सदा चिद्रूप ही है, इसी आशयको लेकर यहाँ उक्त प्रकारकी भावना की गई है।

---

१. यदचेतत्तथाऽनादि चेततीत्यमिहाऽद्य यत् ।
चेतयिष्यत्यन्यथाऽनन्तं यच्च चिद्द्रव्यमस्मि तत् ॥(अध्यात्मरहस्य ३३)
२. सि जु यदा। ३. सि जु अन्यदा। ४. मु चेतनीयं।

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत् ।
[1]नाऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥१५७॥

'यह दृश्य जगत् न तो स्वयं—स्वभावसे—**इष्ट है**—इच्छा तथा रागका विषय है—, **न द्विष्ट है**—अनिष्ट अथवा द्वेषक विषय है—, **किन्तु उपेक्ष्य है**—उपेक्षाका विषय है। **मैं स्वय-स्व भावसे एष्टा**—इच्छा तथा राग करनेवाला—**नहीं हूं; न द्वेष्टा**— द्वेष तथा अप्रीति करनेवाला—**हूं; किन्तु उपेक्षिता हूं**—उपेक्षा करनेवाला समवृत्ति हूं।'

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१५२) मे आत्माने अपने ज्ञाना त्मक-स्वरूपको देखते हुए जो परद्रव्योंसे उदासीन होनेकी भावना की है उसीके स्पष्टीकरणको लिये हुए यह भावना-पद्य है। इस- में वस्तु-स्वभावकी दृष्टिको लेकर यह भावना की गई है कि यह दृश्य जगत्-जगत्का प्रत्येक पदार्थ—न तो स्वय स्वभावसे इष्ट है और न अनिष्ट। यदि कोई भी पदार्थ स्वभावसे सर्वथा इष्ट या अनिष्ट हो तो वह सबके लिये और सदाक लिय इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए; परन्तु ऐसा नही है। एक ही पदार्थ जा एक प्राणीके लिए इष्ट है वह दूसरेके लिए अनिष्ट है; एक रूपमे जो इष्ट है दूसरे रूपमें वह अनिष्ट है; एक कालमे जो इष्ट होता है दूसरे कालमें वही अनिष्ट होजाता है; एक क्षेत्रमे जिसे अच्छा समझा जाता है दूसरे क्षेत्रमें वही बुरा माना जाता है; एक भावसे जिसे इष्ट किया जाता है दूसरे भावसे उसीको अनिष्ट कर दिया जाता है। ऐसी स्थितिमे काई भी वस्तु स्वरूपसे इष्ट या अनिष्ट नही ठहरती। इष्टता और अनिष्टताको यह सब कल्पना प्राणियोंके अपने-अपने तात्कालिक राग-द्वेष अथवा लौकिक प्रयोजनादिके

१. मु नो।

आधीन है। यदि ये जगतके क्षणभगुर पदार्थ किसीके राग-द्वेषके विषय न बनें तो स्वयं उपेक्षाके विषय ही रह जाते हैं।

इसी तरह आत्मा भी स्वभावसे राग करनेवाला (एष्टा) अथवा द्वेष करनेवाला (द्वेष्टा) नहीं है। उसमें राग-द्वेषको यह कल्पना तथा विभाव-परिणति परके निमित्तसे अथवा कर्माश्रित है। उसके दूर होते हो आत्मा स्वयं उपेक्षित अथवा वीतरागी के रूपमें स्थित होता है। उसी रूपमें स्थित होने की यहाँ भावना की गई है।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः।
नाऽहमेषां किमप्यस्मि ममाऽप्येते न किंचन ॥१५८

'वस्तुतः ये शरीरादिक मुझसे भिन्न हैं, मैं भी इनसे भिन्न हूं, मैं इन शरीरादिकका कुछ भी (सम्बन्धी) नहीं हूं और न ये मेरे कुछ होते हैं।'

व्याख्या—यहाँ 'कायादयः' पदमें प्रयुक्त 'आदि' शब्द शरीर-से सम्बन्धित तथा असम्बन्धित सभी बाह्य-पदार्थोंका वाचक है और इसलिए उसमें माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र, दूसरे सगे-सम्बन्धी, जमीन, मकान, दुकान, घर-गृहस्थी का सामान, बाग-बगीचे, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण, बर्तन-भाण्डे, पालतू अपालतू जन्तु और जगतके दूसरे सभी पदार्थ शामिल हैं। सभी पर-पदार्थोंसे ममत्वको हटानेकी इस भावनामें यह कहकर व्यवस्था की गई है कि यथार्थता अथवा वस्तु-स्वरूपकी दृष्टिसे शरीर-सहित ये सब पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, मैं इनका कुछ नहीं लगता और न ये मेरे कुछ लगते हैं।

मैत्री-भावनाका उपसंहार

एवं सम्यग्विनिश्चित्य स्वात्मानं भिन्नमन्यतः।
विधाय तन्मयं भावं न किंचिदपि चिंतयेत्[1] ॥१५९॥

---

१. मु चिन्तये।

'इस प्रकार (भावना-कार) अपने आत्माको अन्य शरीरादिकसे वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसमें तन्मय होकर अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करे।'

व्याख्या—यहाँ, श्रोती-भावनाका उपसंहार करते हुए, बतलाया गया है कि इस प्रकार भावना-द्वारा स्वात्माको अन्य सब पदार्थोंसे वस्तुतः भिन्न निश्चित करके और उसीमें लीन होकर दूसरे किसी भी पदार्थकी चिन्ता न करके चिन्ताके अभावको प्राप्त होवें।

चिन्ताका अभाव तुच्छ न होकर स्वसंवेदन-रूप है

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यादृशामिव ।
दृग्बोध-साम्य-रूपस्य स्वस्य[1] सवेदनं हि सः ॥१६०॥

'(यह) चिन्ताका अभाव जैनियोंके (मतमे) मिथ्यादृष्टियों (वैशेषिकों) के समान तुच्छ अभाव नहीं है; क्योंकि वह चिन्ताका अभाव वस्तुतः दर्शन, ज्ञान और समतारूप आत्माके संवेदन-रूप है।'

व्याख्या—जैनदर्शनमें अभावको भी वस्तुधर्म माना है, जो कि वस्तु-व्यवस्थाके अगरूप है[2]। एक वस्तुमें यदि दूसरी वस्तुका अभाव स्वीकार न किया जाय तो किसी भी वस्तुकी कोई व्यवस्था नहीं बनती। इस दृष्टिसे अभाव सर्वथा असत्‌रूप तुच्छ नहीं है, जिससे चिन्ताके अभावरूप होनेसे ध्यानको ही असत् कह दिया जाय। वह अन्य चिन्ताओंके अभावकी दृष्टिसे असत् होते हुए भी स्वात्मचिन्तात्मक-स्वसवेदनकी दृष्टिसे असत् नहीं है, और इसलिये

१. मु यस्त्व।

२. भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तु-व्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥
—युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः

तुच्छ नहीं है। ध्यानके लक्षणमें प्रयुक्त 'निरोध' अथवा 'रोध' शब्दका अभाव अर्थ करने पर उसका यही आशय लिया जाना चाहिये, न कि सर्वथा चिन्ताके अभावरूप, जिससे ध्यानका ही अभाव ठहरे। अन्य सब चिन्ताओंके अभावके विना एकचिन्तात्मक जो आत्मध्यान है वह नहीं बनता।

स्वसंवेदनका लक्षण

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यत्स्वस्य स्वेन योगिनः ।
तत्स्व-संवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दृशम् ॥१६१॥

'योगीके अपने आत्माका जो अपने द्वारा वेद्यपना और वेदकपना है उसको स्व-संवेदन कहते हैं; जो कि आत्माका दर्शनरूप अनुभव है।'

व्याख्या—स्वसंवेदन आत्माके उस साक्षात् दर्शनरूप अनुभवका नाम है जिसमें योगी आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा ज्ञायकभावको प्राप्त होता है—अपनेको स्वय ही जानता, देखता अथवा अनुभव करता है। इससे स्वसवेदन, आत्मानुभवन और आत्मदर्शन ये तीनो वस्तुतः एक ही अर्थके वाचक हैं, जिनका यहाँ स्पष्टीकरणकी दृष्टिसे एकत्र संग्रह किया गया है।

स्वसवेदनका कोई करणान्तर नही होता

स्व-पर-ज्ञप्तिरुपत्वान्न तस्य करणान्तरम्[1] ।
ततश्चिन्तां परित्यज्य स्वसंवित्त्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥

'स्व-परकी जानकारीरूप होनेसे उस स्वसंवेदन अथवा स्वानुभवका आत्मासे भिन्न कोई दूसरा करण—ज्ञप्तिक्रियाकी निष्पत्तिमें साधकतम—नहीं होता। अतः चिन्ताका परित्याग-

---

१. मु मे कारणान्तरम्।

कर स्वसंवित्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया है कि स्वसंवेदनमें ज्ञप्ति-क्रिया-की निष्पत्तिके लिये दूसरा कोई करण अथवा साधकतम नहीं होता। क्योंकि वह स्वय स्व-पर-ज्ञप्तिरूप है। अतः करणान्तर-की चिन्ताको छोड़कर स्वज्ञप्तिके द्वारा ही उसे जानना चाहिये।

स्वात्माके द्वारा सवेद्य आत्मस्वरूप

दृग्बोध-साम्यरूपत्वाज्जानन्पश्यन्नुदासिता।
चित्सामान्य-विशेषात्मा स्वात्मनैवाऽनुभूयताम् ॥१६३॥

'दर्शन, ज्ञान और समतारूप होनेसे देखता, जानता और वीतरागताको धारण करता हुआ जो सामान्य-विशेष ज्ञानरूप अथवा ज्ञान-दर्शनात्मक उपयोगरूप आत्मा है उसे स्वात्माके द्वारा ही अनुभव करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ जिस आत्माको अपने आत्माके द्वारा ही अनुभव करनेकी बात कही गई है उसके स्वरूप-विषयमें यह सूचना की गई है कि वह दर्शन, ज्ञान और समतारूप होनेसे ज्ञाता, दृष्टा तथा उपेक्षिता (वीतराग) के रूपमे स्थित है और चैतन्यके सामान्य तथा विशेष दोनो रूपोंको—दर्शन-ज्ञानको—लिए हुए है।

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम्।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

'समस्त कर्मज भावोंसे सदा भिन्न ऐसे ज्ञानस्वभाव एवं उदासीन (वीतराग) आत्माको आत्माके द्वारा देखना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ भी स्वसवेदनके विषयभूत आत्माके स्वरूपकी कुछ सूचना करते हुए उसे जिस रूपमें देखनेकी प्रेरणा की गई है वह स्वरूप यह है कि आत्मा सदा कर्मजनित समस्त विभाव-

भावोंसे भिन्न है—कभी उनसे तादात्म्यको प्राप्त नहीं होता है—ज्ञानस्वभाव है और उदासीन है—वीतरागतामय उपेक्षाभाव-को लिए हुए है।'

यन्मिथ्याभिनिवेशेन मिथ्याज्ञानेन चोज्झितम् ।
तन्मध्यस्थं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेद्यतां स्वयम् ॥१६५॥

'जो मिथ्याश्रद्धान तथा मिथ्याज्ञानसे रहित है और रागद्वेषसे रहित मध्यस्थ है उस निजरूपको स्वय अपने आत्मामें अनुभव करना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ भी स्वसंवेद्य आत्माके स्वरूपकी कुछ सूचना की गई है और यह बतलाया गया है कि वह मिथ्यादर्शन तथा मिथ्याज्ञानसे रहित है और अपने मध्यस्थरूपको लिये हुए है, जो कि समता, उपेक्षा अथवा वीतरागतामय है। साथ ही इस रूप आत्माको स्वयं स्वात्मामें देखने-जाननेकी प्रेरणा की गई है।

इन्द्रियज्ञान तथा मनके द्वारा आत्मा दृश्य नहीं

न ह्योन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्वत. ।
वितर्कास्तन्न[1] पश्यन्ति ते ह्यविस्पष्ट-तर्कणाः ॥१६६॥

'रूपादिसे रहित होनेके कारण वह आत्मरूप इन्द्रिय-ज्ञानसे दिखाई देनेवाला नहीं है, तर्क करनेवाले उसे देखते नहीं। वे अपनी तर्कणामें विशेषरूपसे स्पष्ट नहीं हो पाते—उनके तर्क **अस्पष्ट बने रहते हैं।'**

व्याख्या—पिछले एक पद्य (१६४) में आत्माको आत्माके द्वारा देखनेकी जो प्रेरणा की गई है, उसे यहाँ स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि वह इन्द्रियज्ञानके द्वारा दृश्य नहीं है; क्योंकि

१. मे स्तं न।

इन्द्रियाँ वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श-विशिष्ट पदार्थको ही देखती हैं और आत्मा इन वर्णादिगुणोसे रहित है। अनुमानादि-द्वारा तर्क करनेवाले भी उसे देख नही पाते, क्योंकि (पराश्रित होनेसे) अपनी तकणामें वे सदा अस्पष्ट बने रहते हैं। वितर्क श्रुतको कहते हैं[1] और श्रुत अनिन्द्रिय (मन) का विषय है[2]। इससे मन भी आत्माको देख नहीं पाता, यह यहाँ फलितार्थ हुआ।

इन्द्रिय-मनका व्यापार रुकनेपर स्वसंवित्ति-द्वारा आत्मदर्शन

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्याद्विस्पष्टमतीन्द्रियम्।
स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥

'इन्द्रिय और मन दोनोंके निरुद्ध होने पर अतीन्द्रियज्ञान विशेषरूपसे स्पष्ट होता है (अतः) अपना वह रूप जो स्वसंवेदन-के गोचर है उसे स्वसंवेदनके द्वारा ही देखना चाहिये।'

व्याख्या—जब इन्द्रिय और मन दोनोके द्वारा आत्मा दृश्य नही है तब उसे किसके द्वारा देखा जाय? इस प्रश्नको लक्ष्यमें लेकर ही प्रस्तुत पद्यका अवतार हुआ जान पडता है। इसमे बतलाया है कि जब इन्द्रिय और मन दोनोंका व्यापार निरुद्ध होता है—रोक लिया जाता है—तब अतीन्द्रिय-ज्ञान प्रकट होता है, जो कि अपनेमें विशेषत. स्पष्टता अथवा विशदताको लिए रहता है। उस ज्ञानरूप स्वसवित्तिके द्वारा ही उस आत्मस्वरूप-को देखना चाहिये जो कि स्वसवेद्य है—अन्य किसीके द्वारा वह जाना नही जाता। इससे आत्म-दर्शनके लिये इन्द्रिय और मनके

---

१. वितर्कः श्रुतम् (त० सू० ९-४३)।

२. श्रुतमनिन्द्रियस्य (त० सू० २-२१)।

व्यापारको रोकनेकी बड़ी जरूरत है और वह तभी रुक सकता है जब कि इन्द्रियों तथा मनको जीतकर उन्हें अपने आधीन किया जाय।

स्वसंवित्तिका स्पष्टीकरण

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येन चकासती[1]।
चेतना ज्ञानरूपेयं[2] स्वयं दृश्यत एव[3] हि ॥१६८॥

'स्वतन्त्रतासे चमकती हुई यह ज्ञानरूपा चेतना शरीररूपसे प्रतिभासित न होने पर भी स्वयं ही दिखाई पड़ती है।'

व्याख्या—यहाँ, पूर्वपद्यमे उल्लिखित स्वसंवित्तिको स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है कि यह संवित्ति ज्ञानरूपा चेतना है जो कि परकी अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ चमकती हुई स्वयं ही दिखाई पडती है; शरीररूपसे उसका कोई प्रतिभास नहीं होता।

समाधिमे आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव न करनेवाला
योगी आत्मध्यानी नहीं

[4]समाधिस्थेन यद्यात्मा बोधात्मा नाऽनुभूयते।
तदा न तस्य तद्ध्यानं [5]मूर्च्छावन्मोह एव सः ॥१६९॥

'समाधिमें स्थित योगी यदि आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं करता तो समझना चाहिये उस समय उसके आत्मध्यान नहीं किन्तु मूर्च्छावाला मोह ही है।'

---

१. मु चकासते; सि जु चकास्ति च। २. मु रूपेऽयं।
३. सि जु आत्मना दृश्यतेव।
४. समाधिस्थस्य यद्यात्मा ज्ञानात्मा नाऽवभासते।
न तद्ध्यानं त्वया देव! गीतं मोहस्वभावकम् ॥५॥
—ध्यानस्तवे, भास्करनन्दी
५. मु मे मूर्च्छावान्।

व्याख्या—यहाँ उस योगीके ध्यानको आत्मध्यान न बतलाकर मूर्छारूप मोह बतलाया है जो समाधिमें स्थित होकर भी आत्माको ज्ञानस्वरूप अनुभव नही करता । और इससे यह साफ फलित होता है कि जो योगी वस्तुतः समाधिमें स्थित होगा वह आत्माको ज्ञानस्वरूप ही अनुभव करेगा, जिसे ऐसा अनुभव नहीं होगा उसकी समाधिको समाधि न समझ कर मूर्छावान् मोह समझना होगा।

आत्मानुभवका फल

[1]तमेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति[2] ।
[3]तथाऽऽत्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्[4]॥१७०॥

'उस ज्ञान-स्वरूप आत्माको अनुभवमें लाता हुआ यह समाधिस्थ योगी परम-एकाग्रताको प्राप्त होता है तथा उस स्वाधीन आनन्दका अनुभव करता है जो कि वचनके अगोचर है।'

व्याख्या—यहाँ, आत्मानुभवके फलको बतलाते हुए, लिखा है, कि जो समाधिस्थ योगी उस ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुभव करता है वह परम एकाग्रताको और उस स्वाधीन सुखको प्राप्त होता है जिसे वाणीके द्वारा नहीं कह सकते। इससे स्पष्ट है कि आत्माका दर्शन होने पर ध्यानकी एकाग्रता बढ़ जाती है और उससे जिस स्वाभाविक आत्मीय आनन्दकी प्राप्ति होती है उसका वर्णन नही किया जा सकता।

---

१. मु तदेवा । २. सि मात्मैकाग्र्यमृच्छति । ३. सि जु तदा ।
४. मामेवाऽहं तथा पश्यन्नैकाग्र्यं परमश्नुवे ।
भजे मत्कन्दमानन्द निर्जरा-संवरावहम् ॥ (अध्या०र० ४७)

स्वरूपनिष्ठ योगी एकाग्रताको नहीं छोड़ता

यथा निर्वात-देशस्थः प्रदीपो न प्रकम्पते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्र्यमुज्झति ।।१७१।।

'जिस प्रकार पवनरहित स्थानमें स्थित दीपक नहीं काँपता उसी प्रकार अपने स्वरूपमें स्थित योगी एकाग्रताको नहीं छोड़ता ।'

व्याख्या—जहाँ वायुका संचार नही हो ऐसे स्थान पर रखे हुए दीपककी शिखा जिस प्रकार काँपती नही—अडोल बनी रहती है—उसी प्रकार आत्मा जब बाह्यद्रव्योके ससर्गसे रहित हुआ अपने स्वरूपमें स्थित होता है तब वह एकाग्र बना रहता है—सहसा अपनी एकाग्रताको छोड़ता नही—बाह्य-पदार्थोंके ससर्गरूप वायुके सचारसे ही उसकी एकाग्रता भग होती है।

स्वात्मलीन योगीको बाह्य पदार्थोंका कुछ भी प्रतिभास नही होता

[1]तदा च [2]परमैकाग्र्याद्बहिरर्थेषु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाऽऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यतः ।।१७२।।

'उस समाधिकालमें स्वात्मामें देखनेवाले योगीकी परम-एकाग्रताके कारण बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे आत्माके अतिरिक्त और कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता ।'

व्याख्या—जिस समय योगी परम-एकाग्रताको प्राप्त हुआ अपनेको अपने आत्मामें देखता है उस समय बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए भी उसे उनका कुछ भी भान नहीं होता । यह सब परमैकाग्रताकी महिमा है । और यही कुछ भी न चिन्तन-

१. यह पद्य सि जु प्रतियोंमें नहीं है । २. मु परमे ।

का वह रूप है जिसकी सूचना पहले 'पूर्वं श्रुतेन संस्कारं' इत्यादि पद्य (१४४) में की गई है।

अन्यशून्य भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता

[1]अत एवाऽन्य-शून्योऽपि नाऽऽत्मा शून्यः स्वरूपतः।
शून्याऽशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥१७३॥

'इसीलिये अन्य बाह्यपदार्थोंसे शून्य होता हुआ भी आत्मा स्वरूपसे शून्य नहीं होता—अपने निजरूपको साथमे लिये रहता है। आत्माका यह शून्यता और अशून्यतामय स्वभाव आत्माके द्वारा ही उपलब्ध होता है—दूसरे किसी बाह्य-पदार्थके द्वारा नही।'

व्याख्या—पिछले पद्यमे जो यह बात कही गई है कि स्वात्मलीन योगीको बाह्य-पदार्थोंके विद्यमान होते हुए अन्य कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता उसका फलितार्थ इतना ही है कि वह उस समय अन्यसे—दूसरे किसी भी पदार्थके सम्पर्कसे—शून्य होता है; परन्तु अन्यसे शून्य होता हुआ भी वह स्वरूपसे शून्य नही होता—स्वरूपको तो वह तल्लीनताके साथ देख ही रहा है। इस तरह आत्मा उस समय शून्याऽशून्य स्वभावको प्राप्त होता है—परद्रव्यादि-चतुष्टयके अभावकी अपेक्षा शून्य और स्वद्रव्यादि-चतुष्टयके सद्भावकी अपेक्षा अशून्य होता है, और यह शून्याऽशून्य स्वभाव भी आत्माके द्वारा ही उपलक्षित होता है—स्वसंवेद्य है।

मुक्तिके लिये नैरात्म्याद्वैतदर्शनकी उक्तिका स्पष्टीकरण

ततश्च यज्जगुर्मुक्त्यै नैरात्म्याद्वैत-दर्शनम्।
तदेतदेव यत्सम्यगन्याऽपोढाऽऽत्मदर्शनम् ॥१७४॥

---

१. ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दृशाऽस्तेऽक्षमनोऽनिले।
शून्योऽप्यन्यैः स्वतोऽशून्यो मया दृश्येयमप्यहम्—अध्या० २० ४६

'और इसलिये मुक्तिकी प्राप्तिके अर्थ जो नैरात्म्य-अद्वैत-दर्शनकी बात कही गई है वह यही है, जो कि अन्यके आभाससे रहित सम्यक् आत्मदर्शनके रूप है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिकी प्राप्तिके लिये 'नैरात्म्याद्वैत-दर्शन'के कथनकी जिस उक्तिका निर्देश है वह किस आगम-ग्रन्थमें कही गई है यह अभी तक मालूम नहीं हो सका। परन्तु वह कहीं भी कही गई हो, उसका स्पष्ट आशय यहाँ यह व्यक्त किया गया है कि वह अन्यके आभाससे रहित केवल आत्मदर्शनके रूपमें है—उस आत्मदर्शनके समय दूसरी किसी भी वस्तुका कोई प्रतिभास नहीं होता; यदि दूसरी कोई वस्तु साथमें दिखाई पड रही है तो समझ लेना चाहिये कि वह अद्वैतदर्शन नहीं है।

[1]परस्पर-परावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन।
[2]नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथाऽऽत्मनः ॥१७५॥

'सर्व पदार्थ कथंचित् परस्पर परावृत्त हैं—एक दूसरेसे पृथक्त्व (भिन्न स्वभाव)लिए हुए आवृत्त हैं। जिस प्रकार देहादिरूप जगतके नैरात्मता—आत्म-रहितता—है उसी प्रकार आत्माके नैर्जगतता-जगतसे रहितता—है। कोई भी एक दूसरेके स्वरूपमें प्रविष्ट होकर तद्रूप नहीं हो जाता।'

व्याख्या—यहाँ 'नैरात्म्याद्वैतदर्शन'के विषयको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया गया है कि सर्वपदार्थ कथचित्-किसी एक दृष्टिसे-परस्पर परावृत्त हैं, सर्वथा नहीं। देहादिकके जिस प्रकार आत्मता नहीं उसी प्रकार आत्माके देहादिकता नहीं। परस्पर आवृत्त होते हुए भी कोई भी पदार्थ एक दूसरेके स्वभावमें प्रविष्ट होकर तादात्म्यको प्राप्त नहीं होता।

---

१. सि जु परस्पर परावृत्ताः; ज परस्परं पराहृताः।

२. यथा जातु जगन्नाऽहं तथाऽहं न जगत् क्वचित् (अध्या० २०)

अन्यात्माऽभावो[1] नैरात्म्यं स्वात्म-सत्तात्मकश्च सः ।
स्वात्म-दर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्य-दर्शनम् ॥१७६॥

'अन्य आत्मरूपके अभावका नाम नैरात्म्य है और वह स्वात्माकी सत्ताको लिये हुए है। अतः स्वात्माके दर्शनका नाम ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।'

व्याख्या—यहाँ, 'नैरात्म्य' को उसकी निरुक्ति-द्वारा अन्यात्माके अभावरूप बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया है कि वह नैरात्म्य स्वात्माके अभाव-रूप नही, किन्तु स्वात्माकी सत्ताको लिये हुए है, और इसलिये आत्मदर्शन ही सम्यक् नैरात्म्यदर्शन है।

आत्मानमन्य-संपृक्तं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।
पश्यन्विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम् ॥१७७॥

'जो आत्माको अन्यसे संपृक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो अन्य सब पदार्थोंसे आत्माको विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।'

व्याख्या—यहाँ, नैरात्म्यके साथ अद्वैतदर्शनकी बातको और स्पष्ट करते हुए, बतलाया गया है कि जो आत्माको अन्य देहादिकसे संयुक्त देखता है वह द्वैतको देखता है और जो आत्माको दूसरोंसे विभक्त देखता है वह अद्वैतको देखता है।

इस तरह 'नैरात्म्याद्वैतदर्शन' का अभिप्राय केवल शुद्धात्माके दर्शनसे ही है।

एकाग्रतासे आत्मदर्शनका फल

पश्यन्नात्मानमेकाग्र्यात्क्षपयत्यर्जितान्मलान् ।
निरस्ताऽहं-ममोभावः[2] संवृणोत्यप्यनागतान् ॥१७८॥

---

१ मे अनात्माभावो।

२. ब निरस्ताहंममीभावात्।

'अहंकार-ममकारके भावसे रहित योगी एकाग्रतासे आत्माको देखता हुआ (आत्मा में) संचित हुए कर्ममलोंका जहाँ विनाश करता है वहाँ आनेवाले कर्ममलोंको भी रोकता है—इस तरह विना किसी विशेषप्रयत्नके संवर और निर्जरारूप प्रवृत्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ एकाग्रतासे आत्म-दर्शनके फलका निर्देश करते हुए उसके दो फल बतलाये हैं—एक आत्मासे संचित कर्म-मलोंकी निर्जरा (निकासी) और दूसरा आत्मामें नये कर्ममलोंके प्रवेशको रोकनेरूप संवर। ये दोनों फल एक ही शुद्धात्मभावकी दो शक्तियोंके कारण उसी प्रकार घटित होते हैं, जिस प्रकार सचिक्कणताका अभाव हो जाने पर पहलेसे चिपटी हुई धूलि स्वयं झड़ जाती है और नई धूलिको आकर चिपटनेका कोई अवसर नहीं रहता। यही बात 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के निम्न दो पद्योंमें एक ही शुद्धभाव भावसंवर तथा भावनिर्जरा ऐसे दो कार्यरूप कैसे परिणमता है, इस शंकाका समाधान करते हुए, स्पष्ट की गई है:—

एकः शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधाद्
भावाख्यः संवरः स्यात्स इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यन्नैव शक्तिद्वयात्स्यात्
पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलेन्नैव बध्येत नव्यम् ॥४-१०॥
स्नेहाभ्यंगाभावे गलति रजः पूर्वबद्धमिह नूनम्।
नाऽप्यागच्छति नव्यं यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ ॥४-११॥

स्वात्मामें स्थिरताकी वृद्धिके साथ समाधि-प्रत्ययोंका प्रस्फुटन

'यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम्।
समाधिप्रत्ययाश्चाऽस्य स्फुटिष्यन्ति तथा[२] तथा ॥१७६॥

१. सि जु यदा। २. सि जु तदा।

'समाधिमें प्रवृत्त होनेवाला योगी जैसे-जैसे स्वात्मामें स्थिरताको प्राप्त होता जायगा तैसे-तैसे समाधिके प्रत्यय भी उसके प्रस्फुटित होते जायेंगे।'

व्याख्या—'सम्यग्गुरूपदेशेन' इत्यादि पद्य (८७) में ध्यानके प्रत्ययों-चमत्कारोंका जो आश्वासन दिया गया था उसीको पूर्ववर्ती इतने गुरूपदेशके बाद, स्पष्ट करते हुए यहाँ कहा गया है कि समाधिमें स्थित ध्याता जैसे-जैसे अपने आत्मामें स्थिरताको प्राप्त होता जायगा समाधिके अतिशय अथवा चमत्कार भी वैसे-वैसे प्रस्फुटित होते जायेंगे। इससे समाधि-प्रत्ययोंका प्रस्फुटन स्वात्मामे उस अधिकाधिक लीनता एव स्थिरता पर निर्भर है जिसका ग्रन्थमे इससे पहले निरूपण किया गया है। और इसलिये जो ध्याता उस प्रकारकी स्वात्मस्थिति प्राप्त किये विना हो साधारण जप-जाप्य अथवा ध्यान-सामायिकादिके बल पर चमत्कारोंकी आशा रखता है वह उसकी भूल है। उसे अहकार-ममकारके त्याग और इन्द्रिय-मनके निग्रहपूर्वक ध्यानका दृढताके साथ सम्यक् अभ्यास कर स्वात्म-ध्यानमें स्थिरताको उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिये। जैसे-जैसे यह स्थिरता बढ़ेगी वैसे-वैसे ही ध्यान अथवा समाधिके अतिशय-चमत्कारोंको प्रकट होनेका अवसर मिलेगा।

स्वात्मदर्शन धर्म्य-शुक्ल दोनो ध्यानोका ध्येय है

'एतद्द्वयोरपि[2] ध्येयं ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तयोर्भेदोऽवधार्यताम् ॥१८०॥

---

१. साधारणमिद ध्येय ध्यानयोर्धर्म्यशुक्लयोः।
विशुद्धि-स्वामि-भेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यताम् ॥ (आर्ष २१-१३१)
इस आर्ष-वाक्यमे प्रयुक्त 'ध्येय' पद अर्हत्सिद्धरूप परमात्माका वाचक है।

२. ज एव द्वयोरपि, सि जु एतयोरपि।

'यह स्वात्मदर्शन अथवा नैरात्म्याद्वैतदर्शन धर्म्य और शुक्ल दोनों ही ध्यानोंका ध्येय है। विशुद्धि और स्वामीके भेदसे दोनों ध्यानोंका भेद निश्चित किया जाना चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ इस स्वात्मरूपके दर्शनको धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनोका ही लक्ष्यभूत विषय बतलाया है और यह सूचना की है कि इन दोनों ध्यानोंमें परस्पर विशुद्धि और स्वामि-भेदकी अपेक्षासे जो भेद है, उसे अवधारण करना चाहिये। धर्म्य-ध्यानसे शुक्लध्यानमें परिणामोंकी विशुद्धि अधिकाधिक-असंख्यात-तगुणी तथा अनन्तगुणी है। शुक्लध्यानके चार भेदोंमेंसे प्रथम दो भेदोंके स्वामी पूर्वविद-श्रुतकेवली हैं, जो कि श्रेण्यारोहणके पूर्व धर्म्यध्यानके भी स्वामी हैं, और शेष दो भेदों अथवा परमशुक्ल-ध्यानके[1] स्वामी केवली भगवान् हैं। धर्म्यध्यानके स्वामी अवि-रत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक, प्रमत्तसयत-अप्रमत्तसंयत-मुनि तथा श्रेण्यारोहणसे पूर्ववर्ती दूसरे मुनि भी हैं।

प्रस्तुत ध्येयके ध्यानकी दु:शक्यता और उसके अभ्यासकी प्रेरणा

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञानाऽवलम्बनात्।
बोध्यमानमपि प्राज्ञैर्न च द्रागेव[2] लक्ष्यते ॥१८१॥

---

१. शुक्लध्यानके शुक्ल और परमशुक्ल ऐसे दो भेद भी आगममें प्रतिपादित हुए हैं जिनमेसे प्रथमके स्वामी छद्मस्थ और दूसरेके स्वामी केवली भगवान् होते हैं, जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद् द्विधोदितम्।
छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतः ॥
—आर्ष २१-१६७

२ म द्रागवलक्ष्यते।

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टाऽदृष्टफलं[1] च यत् ।
स्थूलं वितर्कमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः ॥१८२॥

'यह आत्माका अद्वैतदर्शन सूक्ष्म-ज्ञान पर अवलम्बित होनेसे ध्यानके लिये बड़ा ही कठिन विषय है और विशिष्ट ज्ञानियोंके द्वारा समझाया जाने पर भी शीघ्र ही लक्षित नहीं होता। अतः जो बुद्धिधनके धनी ज्ञानीजन हैं वे लक्ष्यको, शक्य (संभाव्य) को, दृष्ट और अदृष्टफलको स्थूल वितर्कका विषय बनाकर उसका अभ्यास करें।'

व्याख्या—यहाँ प्रस्तुत ध्येयके ध्यानकी दुःशक्यताका सहेतुक उल्लेख करते हुए बुद्धिमानोंको स्थूल वितर्कका आश्रय लेकर उसके ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा की गई है। स्थूलवितर्कके विषय लक्ष्य, शक्य, दृष्टफल और अदृष्टफल ये चार हैं।

अभ्यासका क्रमनिर्देश

[2]तत्राऽऽदौ पिण्डसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च ।
मारुतीं तैजसीमाप्यां[3] विदध्याद्धारणां क्रमात् ॥१८३॥

'उस अभ्यासमें पहले पिण्ड (देह) की सिद्धि और शुद्धि (निर्मलीकरण) के लिये क्रमशः मारुती, तैजसी और आप्या (वारुणी) धारणाका अनुष्ठान करना चाहिये।'

व्याख्या—जिस अभ्यासकी पूर्वपद्यमें प्रेरणा की गई है उसकी अति संक्षिप्त सूचनामात्र विधि इस पद्य तथा अगले चार पद्योंमें दी गई है। इस पद्यमें सबसे पहले शरीरकी सिद्धि—स्ववशमें स्थिति—और शुद्धिके लिये क्रमशः मारुती, आग्नेयी और जलमयी

---

१. आ दृष्टं दृष्टफलं।

२ इसे मु मे प्रतियोमें १८५वें पद्यके रूपमें दिया है। इससे अगले दो पद्योंके क्रमाङ्क भी उनमें बदले हुए हैं। ३. मु माप्यां।

धारणा (वारुणी) के विधानकी सूचना है। यहाँ जिन तीन धारणाओंका विधान है वे ज्ञानार्णव तथा योगशास्त्रमें वर्णित पार्थिवी आदि पांच धारणाओके अन्तर्गत प्रायः इन्ही नामोकी तीन धारणाओसे कुछ भिन्नक्रम तथा भिन्नस्वरूपको लिये हुए हैं; जैसा कि अगले कुछ पद्यों और उनकी व्याख्यासे प्रकट है।

[1]अकारं मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना ।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च ॥१८४॥
ह-मंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि ।
तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ॥१८५॥
ततः पंचनमस्कारैः पंचपिंडाक्षराऽन्वितैः ।
पंचस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलीक्रियाम्[2] ॥१८६॥
पश्चादात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम् ।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञान-भास्वरम्[3] ॥१८७॥

'(नाभिकमलकी कर्णिकामे स्थित) अर्हं मंत्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और (कुम्भकपवनके द्वारा) कुम्भित करके, रेफ (̊) की अग्निसे (हृदयस्थ) कर्मचक्रको अपने शरीर-सहित भस्म करके और फिर भस्मको (रेचकपवन-द्वारा) स्वयं विरेचित करके 'ह' मंत्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिये कि उससे आत्मामें अमृत झर रहा है और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है। तत्पश्चात् पंच पिण्डाक्षरों (ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः) से (यथाक्रम) युक्त और शरीरके पांच स्थानोंमें विन्यस्त हुए पंच-नमस्कारमन्त्रोंसे—णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरि-

१. मु मे आकारं। २. मु सकलां। ३. मु मे भासुर।

याणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं, इन मूल णमो-कारमंत्रके पांच पदोसे—**सकलीक्रिया करके तदनन्तर आत्माको निर्दिष्टलक्षण अर्हन्तरूप ध्यावे अथवा सकल-कर्म-रहित अमूर्तिक और ज्ञानभास्कर ऐसे सिद्धस्वरूप ध्यावे।'**

व्याख्या—इन पद्योमेसे प्रथम दो पद्योंमें मारुती, आग्नेयी और पीयूषमयी जलधारणाकी विधि-व्यवस्थाको साकेतिक रूपमें सूचित किया है, जिसमें अन्तिम धारणा-द्वारा अमृतमय नवशरीर-के निर्माणकी भी सूचना शामिल है। तीसरे पद्यमें नव-निर्मित शरीरको सकलीकरण-क्रियासे सुसज्जित करनेका विधान है, जो विघ्नबाधाओसे अपनेको सुरक्षित करनेकी क्रिया कही जाती है[1]। चौथे पद्यमे सकलीकरण-क्रियाके अनन्तर अर्हन्त अथवा सिद्धको निर्दिष्ट लक्षणके रूपमें ध्यानेकी प्रेरणा की गई है। अर्हन्त-का यह ध्यानके योग्य निर्दिष्ट लक्षण ग्रन्थके १२३ से १२८ तक छह पद्योंमे वर्णित है और सिद्धोका निर्दिष्ट लक्षण प्रायः पद्य १२० से १२२ में दिया जा चुका है—उसके विवक्षित शेष रूपका सकलन यहाँ १८७ वे पद्यमें किया गया है, जो कि 'ध्वस्तकर्माणं' और 'ज्ञानभास्वरं' के रूपमे है।

जिस नाभि-कमलकी कर्णिकामें 'अर्हं' या 'अ'-पूर्वक 'हूँ' मंत्रकी स्थितिकी बात कही गई है वह अतिमनोहर सोलह उन्नत पत्रोंका होता है, जिनपर १६ स्वरोंको अकित करके चिन्तन किया जाता है[2]। जिस कर्मचक्रको रेफकी अग्निसे जलानेकी बात कही

---

१. सिसाधयिषुणा विद्यामविघ्नेनेष्टसिद्धये।
यत्स्वस्य क्रियते रक्षा सा भवेत्सकलीक्रिया ॥ (विद्यानु० परि०३)

२. "ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात् कमल नाभिमण्डले। स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नतपत्रकम् ॥ प्रतिपत्रसमासीनस्वरमालाविराजितम्। कर्णिकायां महामन्त्रं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ॥ (ज्ञाना० ३८-१०,११)
"नाभौ षोडश विद्यासद्द्वपत्रासु दलमध्यमं।
हकारं बिन्दुसंयुक्तं रेफाक्रान्तं प्रचिन्तयेत्।' (विद्यानु० ३-७८)

गई है वह हृदयस्थ आठ पत्रोंका मुकुलित अधोमुख कमल होता है, जिसके आठों पत्रों पर ज्ञानावरणादि आठ कर्म आत्माको घेरे हुए स्थित होते हैं। इस कमलके आठों दलोंको कुम्भक-पवनके बलसे खोलकर-फैलाकर उक्त 'हूँ' बीजाक्षरके रेफसे उत्पन्न हुई प्रबलाग्निसे भस्म किया जाता है[1]। कर्मकमलके दहनानन्तर त्रिकोणाकार अग्निमण्डलके द्वारा स्वशरीरके दहन-का भी चिन्तन किया जाता है, जिसकी सूचना 'कर्म' के साथ **'स्ववपुषा'** पदके प्रयोग-द्वारा की गई है और जिसका स्पष्टीकरण ज्ञानार्णवके निम्न पद्योंसे होता है:—

> ततो वह्निः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमंडलम् ।
> स्मरेज्ज्वालाकलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम् ॥१६॥
> वह्निबीज-समाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाऽङ्कितम् ।
> ऊर्ध्ववायुपुरोद्भूतं निर्धूमं कांचनप्रभम् ॥१७॥
> अन्तर्दहति मंत्रार्चिर्बहिर्वह्निपुरं पुरम् ।
> धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वाला-प्रचय-भासुरम् ॥१८॥
> भस्मभावमसौ नीत्वा शरीरं तच्च पंकजं ।
> दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः ॥१९॥

अष्टकमदल कमल और शरीरके भस्मीभूत हो जाने पर उस भस्मके विरेचनका—उत्सर्गका—चिन्तन किया जाता है, जो

---

१. "हृद्यष्टकर्मनिर्माणं द्विचतुःपत्रमम्बुजं ।
मुकुलीभूतमात्मानमावृत्यावस्थितं स्मरेत् ।
कुंभकेन तदम्भोजपत्राणि विकचय्य च ।
निर्दहेन्नाभिपंकेजं बीजबिन्दु-शिखाग्निना ।
(विद्यानु० ३-७९,८०)

"तदष्टकर्मनिर्माणमष्टपत्रमधोमुखम् ।
दहत्येव महामन्त्र-ध्यानोत्थप्रबलोऽनलः ॥ (ज्ञाना० ३८-१५)

विरेचक पवनके द्वारा होता है[1]। इसके पश्चात् नभ.स्थित 'ह' मन्त्रसे झरते हुए अमृतसे जिस अमृतमय एव उज्ज्वल नव शरीर-का निर्माण होता है उसकी रक्षाके लिए जिस सकलीक्रिया-को व्यवस्थाका विधान किया गया है, वह नमस्कारमन्त्रके पाँच पदोंको क्रमशः 'ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः' इन पाँच पिंडाक्षरोंसे (जिन्हें शून्यबीज भी कहते हैं) युक्त करके शरीरके पाँच स्थानों पर विन्यस्त करनेसे बनती है। शरीरके वे पाँच स्थान कौनसे हैं ? यह मूलपद्यसे कुछ स्पष्ट नहीं होता। मल्लिषेणाचार्यकृत भैरव-पद्मावती-कल्पके 'सकलीकरण' नामक द्वितीय परिच्छेदमें शिर, मुख, हृदय, नाभि और पादद्वय इन पाँच स्थानोंका उल्लेख है और इनमें 'णमो अरिहंताणं' आदि पाँच मन्त्र-पदोका क्रमशः 'ह्रां' आदि एक-एक बीज पदके साथ न्यासका विधान है—भले ही पूर्वमें ॐ और अन्तमे 'स्वाहा' शब्द भी वहाँ जोड़ा गया है[2], जो यहाँ विवक्षित नहीं है, परन्तु विद्यानुशासनके तृतीय परिच्छेदगत सकलीकरण-विधानमे 'ॐ ह्रां णमो अरिहंताणं' का हृदयमे 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं' का शिरके पूर्व भागमें, 'ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं' का शिरके दक्षिण भागमे, 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं' का शिरके पश्चिम भागमे और 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं' पदका शिरके वामभागमे न्यासका विधान है। साथ ही, इन पाँचों नमस्कारमंत्रोंको अपने-अपने बीजपदके

---

१. दहनं कुंभकेन स्याद् भस्मोत्सर्गश्च रेचकैः। (विद्यानु० परि० ३)

२. पचनमस्कारपदैः प्रत्येकं प्रणवपूर्व-होमान्त्यैः।
पूर्वोक्तपचशून्यैः परमेष्ठिपदाग्रविन्यस्तैः ॥३॥
शीर्षं वदन हृदय नाभिं पादौ च रक्ष रक्षेति।
कुर्यादेतैर्मंत्री प्रतिदिवसं स्वांगविन्यासम् ॥४॥
—भैरवपद्मा०

साथ द्वितीयवार शिर पर ही क्रमशः भाल, मस्तक, दक्षिण, पश्चिम, और उत्तर भागमे न्यस्त करनेका विधान किया है[1]।

इन विभिन्न उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि सकलीकरण-विषयक-मन्त्रादि-पदोके विन्यासका कोई एक ही क्रम निर्दिष्ट नहीं है। जहाँ जिस-जिस कार्यके साथ जैसी व्यवस्था है वहाँ उस-उस कार्यको उसी व्यवस्थाके साथ ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार मूल पद्योमें सांकेतिकरूपसे स्थित गूढ़ अर्थका यह यत्किंचित् स्पष्टीकरण है, जो यथाशक्ति ग्रन्थान्तरोंके आधार पर किया गया है। विशेष जानकारी इस विषयके विशेषज्ञो अथवा अनुभवी विद्वानोंसे ही प्राप्त हो सकेगी।

स्वात्माके अर्हद्रूपसे ध्यानमे भ्रान्तिकी आशंका

नन्वनर्हन्तमात्मानमर्हन्तं ध्यायतां सताम्।
अतस्मिंस्तद्ग्रहो[2] भ्रान्तिर्भवतां भवतीति चेत् ॥१८८॥

'यहाँ कोई शिष्य शंका करता है कि जो आत्मा अर्हन्त नहीं उसको अर्हन्तरूपसे ध्यान करनेवाले आप सत्पुरुषोंके क्या जो वस्तु जिस रूपमें नहीं उसे उस रूपमें ग्रहणरूप भ्रान्ति नहीं होती है?'

---

१. हृदि न्यसेन्नमस्कारमों ह्रां पूर्वकमर्हताम्।
पूर्वे शिरसि सिद्धानामों ह्रीं पूर्वां स्तुतिं न्यसेत् ॥७२॥
ॐ ह्रूं पूर्वंक्रमाचार्यस्तोत्रं शीर्षस्य दक्षिणे।
ॐ ह्रौं पूर्वमुपाध्यायस्तवं पश्चिमतो न्यसेत् ॥७३॥
वामे पार्श्वे न्यसेद् ॐ ह्रः पूर्वां साधुनमस्कृतिम्।
ततः पञ्चाप्यमून् मंत्रान् शिरस्येव पुनर्न्यसेत् ॥७४॥
प्राग्भागे शिरसो मूर्ध्नि दक्षिणे पश्चिमे तथा।
वामे चेत्येष विन्यासक्रमो वारे द्वितीयके ॥७५॥ —विद्यानु०

२. ब तद्ग्रहे।

व्याख्या—जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसे उस रूपमें ग्रहण न करके विपरीतरूपमें ग्रहण करना भ्रान्तिका सूचक होता है। अतः अपना आत्मा जो अर्हन्त नहीं उसे अर्हन्तरूपमें ध्यान करनेवाले आप जैसे सत्पुरुषोंके क्या भ्रान्तिका होना नहीं कहा जायगा ? ऐसा शिष्यने गुरुसे यहाँ प्रश्न किया है अथवा उनके सामने अपनी शंकाको उपस्थित किया है। इस शंकाका समाधान आगे (२१२ वें पद्य तक) किया गया है।

भ्रान्तिकी शंकाका समाधान

तन्न चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावार्हन्नयमर्पितः ।
[1]स चार्हद्ध्यान-निष्ठात्मा ततस्तत्रैव तद्ग्रहः ॥१८९॥

'उक्त शंका ठीक नहीं है; क्योंकि हमारे द्वारा यह भाव-अर्हन्त विवक्षित है और वह भाव-अर्हन्त अर्हन्तके ध्यानमें लीन आत्मा है, अतः उस अर्हद्ध्यान-लीन आत्मामें ही अर्हन्तका ग्रहण है—और इसलिये भ्रान्तिकी कोई बात नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ शंकाको ठीक न बतलाते हुए जो मुख्य बात कही गई है वह यह है कि हमारे उक्त ध्यानकथनमें 'भाव-अर्हन्त' विवक्षित है—द्रव्य-अर्हन्त नहीं। जो आत्मा अर्हद्ध्यानाविष्ट होता है—अर्हन्तका ध्यान करते हुए उसमें पूर्णतः लीन होजाता है—वह उस समय भावसे अर्हन्त होता है, उस भाव-अर्हन्तमें ही अर्हन्तका ग्रहण है। अतः 'अतस्मिंस्तद्ग्रहः' का—जो जिस रूपमें नहीं उसे उस रूपमें ग्रहणका—दोष नहीं आता।

परिणमते येनाऽऽत्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।
अर्हद्ध्यानाऽऽविष्टो भावार्हन्[2] स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०

---

१. सि जु भावार्हद्ध्यान। २. मु सि ज भावार्हः।

'जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय होता है अतः अर्हद्ध्यानसे व्याप्त आत्मा स्वयं भाव-अर्हन्त होता है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हद्ध्यानाविष्ट आत्मा भावार्हन्त कैसे होता है, इस विषयके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है और वह यह है कि 'जो आत्मा जिस समय जिस भावसे परिणमन करता है वह उस समय उस भावके साथ तन्मय होता है और तन्मय होनेसे ही तद्रूप कहा जाता है'। इसीसे अर्हन्तके ध्यानमें तद्रूप परिणत हुआ आत्मा स्वयं भाव-अर्हन्त होजाता है। इस तद्रूप-परिणमनके सिद्धान्तका निरूपण श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारके निम्नवाक्यमें भी किया है, जिसमें 'धर्म-परिणत आत्माको धर्म' बतलाया है :—

परिणमदि जेण दव्व तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ।।८।।

'येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।।१९१।।

'आत्मज्ञानी आत्माको जिस भावसे जिस रूप ध्याता है उसके साथ वह उसी प्रकार तन्मय होजाता है जिस प्रकार कि उपाधिके साथ स्फटिक।'

---

१. जेण सरूवि झाइयइ अप्पा एहु अणंतु ।
तेण सरूवि परिणवइ जह फलिहउ-मणिमंतु ।। (परमात्मप्र० २-१७३)
येन येनैव भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तन्मयस्तत्र तत्रापि विश्वरूपो मणिर्यथा ।। (अमितगतियोगसार ९-५१)
येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहकः ।
तेन तन्मयतां याति विश्वरूपो मणिर्यथा ।। (ज्ञानार्णव, योगशास्त्र)

व्याख्या—यहाँ, सोपाधि-स्फटिकके उदाहरण-द्वारा तन्मयता-की बातको स्पष्ट करते हुए, यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार स्फटिकमणि, जिसे विश्वरूपमणि भी कहते हैं, जिस-जिस रूप-की उपाधिके साथ सम्बन्ध करता है उस-उस रूपकी उपाधिके साथ तन्मयता (तद्रूपता) को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञानी आत्माको जिस भावके साथ जिस रूप ध्याता है उसके साथ वह उसी रूप तन्मयताको प्राप्त होता है।

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः ।
आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥१९२॥
ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा ।
भव्येष्वास्ते सतश्चाऽस्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥१९३

'**अथवा सर्वद्रव्योंमें भूत और भावी स्वपर्यायें तदात्मक हुई द्रव्यरूपसे सदा विद्यमान रहती हैं। अतः यह भावी अर्हत्पर्याय भव्यजीवोंमें सदा विद्यमान है, तब इस सत्‌रूपसे स्थित अर्हत्प-र्यायके ध्यानमें विभ्रमका क्या काम ?**—अपने आत्माको अर्हन्त-रूपसे ध्यानेमें विभ्रमको कोई बात नहीं है। यही भ्रान्तिके अभावकी बात अपने आत्माको सिद्धरूप ध्यानेके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ शंकाका समाधान एक दूसरी सैद्धान्तिकदृष्टि-से किया गया है और वह यह कि सर्वद्रव्योंमें उनकी भूत और भावी स्वपर्यायें द्रव्यरूपसे तदात्मक हुई सदा स्थिर रहती हैं—द्रव्यसे उसकी स्वपर्यायें कभी जुदा नहीं होतीं और न द्रव्य ही स्वपर्यायोंसे कभी जुदा होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार भव्य-जीवोंमे यह भावी अर्हत्पर्याय द्रव्यरूपसे तदात्मक हुई सदा विद्य-मान है। अतः भव्यात्मामें सदा स्थित इस सत्‌रूप अर्हत्पर्यायके ध्यानमें विभ्रमकी कौनसी बात है ? कोई भी नहीं।

यहाँ द्रव्यकी जिन स्वपर्यायोंका उल्लेख है वे द्रव्यान्तरके संयोगके विना ही स्वभावसे होनेवाली वस्तु-प्रदेशपिण्डके रूपमें स्वाभाविक द्रव्यज-पर्यायें हैं। इनके विपरीत जो द्रव्यान्तरके सयोगसे उत्पन्न होनेवाली प्रदेशपिण्डरूप पर्यायें होती हैं उन्हें वैभाविक द्रव्यज पर्याये कहते हैं और वे जीव तथा पुद्गल इन दो द्रव्योमें ही होती है—शेषमें नही; जैसा कि अध्यात्मकमलमार्तण्डके द्वितीय परिच्छेदके निम्न दो पद्योसे प्रकट है :—

यो द्रव्यान्तर-सर्मिति विनैव वस्तुप्रदेशसपिण्डः।
नैसर्गिकपर्यायो द्रव्यज इति शेषमेव गदित स्यात् ॥११॥
द्रव्यान्तर-सयोगादुत्पन्नो देशसचयो द्रयजः।
वैभाविकपर्यायो द्रव्यज इति जीव-पुद्गलयोः ॥१२॥

जो सयोगज पर्याये होती हैं उनका द्रव्यमे सदा अस्तित्व नही बनता, जिसके लिये मूलमे 'सर्वदा' 'सत.' जैसे पदोका प्रयोग किया गया है, और इसलिए उनको परपर्याय तथा बाह्यभाव कहा जाता है [1]।

अर्हद्रूप ध्यानको भ्रान्त मानने पर ध्यान-फल नही बनता

[2]किं च भ्रान्तं यदीदं स्यात्तदा नाऽतः फलोदयः।
नहि मिथ्याजलाज्जातु विच्छित्तिर्जायते तृषः ॥१६४॥
प्रादुर्भवन्ति चाऽमुष्मात्फलानि ध्यानवर्त्तिनाम्।
धारणा-वशतः शान्त-क्रूर-रूपाण्यनेकधा ॥१६५॥

'और यदि किसी तरह इस ध्यानको भ्रान्तरूप मान भी लिया जाय तो इससे फलका उदय नहीं बन सकेगा; क्योंकि मिथ्याजलसे

---

१. एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसण-लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोग-लक्खणा (नियमसार)
२. मे किं विभ्रान्तं। ३. आ ब मे धारणा वसतः।

कभी तृषाका नाश नहीं होता—प्यास नहीं बुझती। किन्तु इस ध्यानसे ध्यानवर्तियोंके धारणाके अनुसार शान्तरूप और क्रूररूप अनेक प्रकारके फल उदयको प्राप्त होते हैं—ऐसा देखनेमें आता है।'

व्याख्या—यहाँ एक तीसरी दृष्टिसे शकाके समाधानकी बात-को लिया गया है और वह यह कि 'यदि इस अर्हद्रूपमें आत्म-ध्यानको भ्रान्त मान लिया जाय तो इससे किसी फलकी प्राप्ति नही बनती, उसी प्रकार जिस प्रकार कि मिथ्याजलसे कभी प्यास नही बुझती। परन्तु ऐसा नही है, ध्यान करनेवालोंके इस ध्यान-से धारणाके अनुसार अनेक प्रकारके शान्त तथा क्रूररूप फलोंकी प्रादुर्भूति देखनेमें आती है और इसलिए इस ध्यानको भ्रान्त नही कहा जा सकता।

आगे इस ध्यानके फलोंको स्पष्ट किया गया है।

ध्यान-फलका स्पष्टीकरण

गुरूपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।
अनन्तशक्तिरात्माऽयं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥

'सम्यक्गुरुके उपदेशको प्राप्त हुए एकाग्र-ध्यानियोंके द्वारा ध्यान किया जाता हुआ यह अनन्त शक्तियुक्त अर्हन् आत्मा मुक्ति तथा भुक्तिको प्रदान करता है।'

व्याख्या—यहाँ अर्हद्रूप आत्मध्यानके बलसे मुक्ति तथा भुक्ति-को प्राप्ति होती है, ऐसा सूचित किया गया है। किसको मुक्तिकी और किसको भुक्तिको प्राप्ति होती है, यह आगे बतलाया गया है।

ध्यातोऽर्हत्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये।
तद्ध्यानोपात्त-पुण्यस्य स एवाऽन्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

'अर्हद्रूप अथवा सिद्ध-रूपसे ध्यान किया गया (यह आत्मा) चरमशरीरी ध्याताके मुक्तिका और उससे भिन्न अन्य ध्याताके भुक्तिका कारण बनता है, जिसने उस ध्यानसे विशिष्ट पुण्यका उपार्जन किया है।'

व्याख्या—यहाँ, अर्हद्रूप अथवा सिद्धरूप दोनों प्रकारके आत्म-ध्यानसे मुक्ति तथा भुक्ति-प्राप्तिकी सूचना करते हुए, यह स्पष्ट किया गया है कि जो चरमशरीरी है—जिसको अपने वर्तमान शरीरके अनन्तर दूसरा शरीर धारण करना नहीं है—उसको तो मुक्तिकी प्राप्ति होती है और जो चरमशरीरी नहीं है—जिसे अभी संसारमें दूसरा जन्म लेना है—उसे भुक्तिकी—स्वर्गादिके सातिशय भोगोंकी-प्राप्ति होती है।

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं[1] तुष्टिः[2] पुष्टिर्वपुर्धृतिः ।
यत्प्रशस्तमिहाऽन्यच्च तत्तद्ध्यातुः प्रजायते ॥१९८॥

'ज्ञान, श्री (लक्ष्मी, विभूति, वाणी, शोभा, प्रभा, उच्चस्थिति) आयु, आरोग्य, सन्तोष, पोष, शरीर, धैर्य तथा और भी जो कुछ इस लोकमें प्रशस्तरूप वस्तुएं हैं वे सब ध्याताको (इस ध्यानके बलसे) प्राप्त होती हैं।'

व्याख्या—यहाँ आत्माके अर्हत्सिद्धरूप ध्यानसे होनेवाले लाभोंकी सूचना की गई है और यह बतलाया गया है कि और भी जो कुछ अच्छी वस्तुओंका लाभ है वह सब इस ध्यानसे प्राप्त होता है।

तद्ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकम्पन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूत-शाकिन्यः क्रूराः शाम्यन्ति च क्षणात् ॥१९९

---

१. मे श्रीरारोग्यं। २. मु तुष्टिपुष्टि।

'उस अर्हत् अथवा सिद्धके ध्यानसे व्याप्त आत्माको देखकर महाग्रह—सूर्य-चन्द्रमादिक—प्रकम्पित होते हैं, भूत तथा शाकिनियाँ नाशको प्राप्त हो जाती हैं—अपना कोई प्रभाव जमाने नहीं पातीं—और क्रूर जीव क्षणमात्रमें अपनी क्रूरता छोड़कर शान्त बन जाते हैं।'

व्याख्या—यहाँ दूसरों पर इस ध्यानका क्या प्रभाव पडता है उसे यत्किंचित् सूचित किया गया है और उसमें महाग्रहोंके प्रकम्पन, भूतों तथा शाकिनियोंके पलायन और क्रूर-जन्तुओंके क्षणभरमें शमनकी बात कही गई है।

ध्यान-द्वारा कार्यसिद्धिका व्यापक सिद्धान्त

यो यत्कर्म-प्रभुर्देवस्तद्ध्यानाविष्ट-मानसः[1]।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्म-वांछितम् ॥२००

'जो जिस कर्मका स्वामी अथवा जिस कर्मके करनेमें समर्थ देव है उसके ध्यानसे व्याप्तचित्त हुआ ध्याता उस देवतारूप होकर अपना वांछित अर्थ सिद्ध करता है।'

व्याख्या—यहाँ ध्यानके फलका व्यापक सिद्धान्त बतलाते हुए, यह प्रतिपादन किया गया है कि जो देवता (शक्ति या व्यक्ति-विशेष) जिस कर्मके करनेमें समर्थ अथवा उसका अधिष्ठाता—स्वामी है उसको ध्यानाविष्ट करनेवाला ध्याता तदात्मक होकर अपने वांछित कार्यको सिद्ध करता है।

कैसे कुछ ध्यानों और उनके फलका निर्देश

पार्श्वनाथ-भवन्मंत्री सकलीकृत-विग्रहः[2]।
महामुद्रां महामंत्रं महामण्डलमाश्रितः ॥२०१॥

---

१. मु मे मात्मनः। २. मु सि जु पार्श्वनाथो।

[1]तैजसी-प्रभृतीर्बिभ्रद्धारणाश्च यथोचितम् ।
निग्रहादीनुदग्राणां ग्रहाणां कुरुते द्रुतम् ॥२०२॥

'जो मंत्री—मन्त्राराधक योगी—शरीरको सकलीक्रियासे सम्पन्न किए हुए है, महामुद्रा, महामन्त्र तथा महामण्डलका आश्रय लिए हुए है और तैजसी आदि धारणाओंको यथोचितरूपमें धारण किए हुए है वह पार्श्वनाथ होता हुआ—अपनेको पार्श्व-नाथरूपमें ध्याता हुआ—शीघ्र ही उग्रग्रहोंके निग्रहादिकको करता है।'

व्याख्या—यहाँ देवताविशेषके ध्यान करनेका निरूपण करते हुए प्रथम ही श्रीपार्श्वनाथके ध्यानको लिया है। इस ध्यान-द्वारा पार्श्वनाथ होता हुआ मन्त्री-योगी शीघ्र ही उग्रग्रहोंका निग्रह आदिक करनेमें समर्थ होता है। पार्श्वनाथके ध्यान-द्वारा इस कर्मको करनेवाला योगी 'सकलीकृत-विग्रह' होना चाहिये; महामुद्रा, महामन्त्र और महामण्डलको आश्रित किये हुए होना चाहिए और साथ ही तैजसी (आग्नेयी) आदि धारणाओंको यथोचित-रूपमें धारण किये हुए होना चाहिए।

यहाँ उल्लिखित सकलीकरण, महामुद्रा, महामन्त्र, महामण्डल, और तैजसी आदि धारणाओंका क्या रूप है यह सब उस मंत्रा-राधक योगीके जाननेका विषय है, जिसे यथावश्यक ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये।

स्वयमाखण्डलो भूत्वा महीमण्डल[2]-मध्यगः ।
[3]किरीटी कुण्डली वज्री पीत-भूषा[4]ऽम्बरादिकः ।२०३।

---

१. मु तैजसीं प्रभृतिर्बिभ्रद्धाणाश्च । २. मु महामडल ।
३. मु मे किरीटकुंडली । ४. मु मूषा ।

कुम्भको स्तम्भ-मुद्राढ्यः[1] स्तम्भनं मंत्रमुच्चरन् ।
स्तम्भ-कार्याणि सर्वाणि करोत्येकाग्र-मानसः ॥२०४

'(उक्त विशेषण-विशिष्ट मन्त्री) **स्वयं मुकुट-कुण्डल-वज्र-विशिष्ट और पीत-भूषण-वसनादिकको धारण किये हुए इन्द्र होकर पृथ्वीमण्डलके मध्यमें प्राप्त हुआ, कुम्भकपवनको साधे हुए, स्तम्भमुद्रासे युक्त और एकाग्रचित्त हुआ स्तम्भन-मन्त्रका उच्चारण करता हुआ सारे स्तम्भन-कार्योंको करता है ।'**

व्याख्या—यहाँ दूसरे देवताविशेष इन्द्रके ध्यान-फलको लिया गया है। इस ध्यानमें इन्द्रको ध्यानाविष्ट करके स्वय इन्द्र होता हुआ वह एकाग्रचित्त मन्त्री सारे स्तम्भनकार्योंको करनेमें समर्थ होता है। इन्द्रका रूप मुकुट, कुण्डल, वज्र और पीले वस्त्राभूषणो आदिसे युक्त है और वह स्वर्गसे महीमण्डलके मध्य प्राप्त होकर ही यहाँ स्वयं कुछ कार्य करनेमें समर्थ होता है। तदनुरूप ही मन्त्री अपनेको उन विशेषणोसे विशिष्ट अनुभव करे। साथ ही कुम्भकीपवनको साधे हुए स्तम्भ-मुद्रासे युक्त होकर स्तम्भन-मन्त्रका उच्चारण करे, जो कि स्तम्भन-कार्यके लिये इन्द्रानुभूतिके साथ अतीव आवश्यक है। स्तम्भ-मुद्राका और स्तम्भन-मन्त्रका इस विषयमे क्या रूप है यह अन्वेषणीय है।

स स्वयं गरुडोभूयक्ष्वेडं क्षपयति क्षणात् ।
कन्दर्पश्च स्वयं भूत्वा जगन्नयति वश्यताम् ॥२०५॥
एवं वैश्वानरोभूय[2] ज्वलज्ज्वाला-शताकुलः ।
शीतज्वरं हरत्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम् ॥२०६॥

---

१. मु मे कुम्भकीस्तम्भमुद्राढ्या (ढः:) । २. मु वैश्वानरो भूयं ।

स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्षन्नमृतमातुरे ।
[1]अथैनमात्मसात्कृत्य [2]दाहज्वरमपास्यति ॥२०७॥
क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।
शान्तिकं पौष्टिकं योगी विदधाति शरीरिणाम् ॥२०८॥

'वह मन्त्री योगी ध्यान-द्वारा स्वयं गरुडरूप होकर विषको क्षणभरमें दूर कर देता है और स्वय कामदेव होकर जगतको अपने वशमें कर लेता है। इसी प्रकार सैकड़ों ज्वालाओंसे प्रज्वलित अग्निरूप होकर और ज्वालाओंसे रोगीके शरीरको व्याप्त करके शीघ्र ही शीतज्वरको हरता है; तथा स्वयं अमृत-रूप होकर रोगीको आत्मसात् करके उसके शरीरमें अमृतकी वर्षा करता हुआ उसके दाहज्वरका विनाश करता है; और क्षीरोदधिरूप होकर सारे जगतको उसमें तिराता, बहाता अथवा स्नान कराता हुआ वह योगी शरीरधारियोंके शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मको करता है।'

व्याख्या—यहाँ दूसरे कुछ पदार्थोंके ध्यान-फलको भी भावध्येयके उदाहरणके रूपमे लिया गया है, जैसे गरुड़, कामदेव, अग्नि, अमृत और क्षीरोदधिका ध्यान। गरुड़के ध्यान-द्वारा स्वय गरुड़ हुआ योगी क्षणभरमे सर्पविषको दूर कर देता है। कामदेवके ध्यान-द्वारा स्वयं कामदेव होकर योगी जगतको अपने वशमे कर लेता है। अग्निदेवताके ध्यान-द्वारा स्वय सकड़ों ज्वालाओंसे जाज्वल्यमान अग्निदेवतारूप होकर योगी शीत-ज्वरसे पीड़ित रोगीको अपनी ज्वालाओसे व्याप्त करके शीघ्र ही उसके शीत-ज्वरको हरता है। अमृतके ध्यान-द्वारा स्वय अमृतरूप हुआ योगी रोगीको आत्मसात् करके शरीरमें अमृतको वर्षा करता हुआ

१. मु मे अथैतमात्मसाक्र(त्कृ)त्य। २. आ दाघ।

उसके दाहज्वरको दूर करता है। क्षीरोदधिके ध्यान-द्वारा स्वयं क्षीरोदधिमय हुआ योगी सारे जगतको उसमें डुबाता-तिराता हुआ प्राणियोंके शान्तिक तथा पौष्टिक कर्मोंको करता है और इस तरह उन्हें सुखी बनाता है।

इस प्रकार ये कुछ थोड़े उदाहरण हैं जिनके द्वारा तद्देवता-मय-ध्यानके फल और सिद्धान्तको स्पष्ट करके बतलाया गया है।

तद्देवतामय-ध्यानके फलका उपसंहार

किमत्र बहुनोक्तेन यद्यत्कर्म चिकीर्षति।
[1]तद्देवतामयो भूत्वा तत्तन्निर्वर्तयत्ययम् ॥२०९॥

'इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या? यह योगी जो भी काम करना चाहता है उस-उस कर्मके देवतारूप स्वयं होकर उस-उस कार्यको सिद्ध कर लेता है।'

व्याख्या—यहाँ, प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते हुए, अधिक कहनेको व्यर्थ बताकर यह सार-सूचना की गई है कि योगी जिस-जिस कार्यको करना चाहता है उस-उस कार्यके अधिष्ठाता देवताके ध्यान-द्वारा उस-उस देवतामय होकर उस-उस कार्यको स्वयं सम्पन्न करता है।

शान्ते कर्मणि शान्तात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्नयम्।
शान्त-क्रूराणि कर्माणि साधयत्येव साधकः ॥२१०॥

'यह साधक योगी शान्तिकर्मके करनेमें शान्तात्मा और क्रूर-कर्मके करनेमें क्रूरात्मा होता हुआ शान्त तथा क्रूरकर्मोंको सिद्ध करता है।'

---

१. तद्देवतन्मयो।

व्याख्या—पिछली सार-सूचनाका यह पद्य भी एक अंग है। इसमें यह बतलाया है कि ध्यान-द्वारा साधक योगी जिन कार्योंको सिद्ध करना चाहता है वे दो प्रकारके हैं—शान्तकर्म और क्रूरकर्म। शान्तकर्मकी साधनामें योगी शान्त और क्रूरकर्मकी साधनामें क्रूर होता हुआ दोनों प्रकारके कार्योंको सिद्ध करनेमें समर्थ होता है।

समरसीभावकी सफलतासे उक्त भ्रान्तिका निरसन

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः।
निर्विषीकरणं [1]शान्तिर्विद्वेषोच्चाट-निग्रहाः ॥२११॥
एवमादीनि कार्याणि दृश्यन्ते ध्यानवर्तिनाम्।
ततः समरसीभाव-सफलत्वान्न विभ्रमः ॥२१२॥

'ध्यानका अनुष्ठान करनेवालोंके आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, विद्रावण, निर्विषीकरण, शान्तिकरण, विद्वेषन, उच्चाटन, निग्रह इत्यादि कार्य दिखाई पड़ते हैं। अतः समरसी-भावके सफल होनेसे विभ्रमकी कोई बात नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ, शंका-समाधानका उपसंहार करते हुए, जिन आकर्षणादि कार्योंका निर्देश तथा 'आदीनि' पदके द्वारा सूचन किया है उनके विषयमें कहा गया है कि ये सब कार्य ध्यान-निष्ठात्माओंके द्वारा होते हुए देखे जाते हैं। अतः ध्येय-सदृश-ध्यानके पर्यायरूप अथवा ध्येय-ध्याताके एकीकरणरूप जो यह समरसीभाव है उसके सफल होनेसे विभ्रमकी कोई बात नहीं रहती।

उक्त कथनमें 'दृश्यन्ते' पद अपना खास स्थान रखता है और इस बातको सूचित करता है कि जिन आकर्षण-स्तम्भनादिक

---

१. मु शांतिविद्वेषोच्चाट।

ध्यानविषयक कार्योंका यहाँ उल्लेख किया गया है वे सब ग्रन्थकारमहोदयके स्वतःके अनुभूत अथवा दृश्य-विषय हैं और इसलिये उनमें शंकाके लिये स्थान नहीं है। इन आकर्षणादि विषयोंका विद्यानुशासन तथा भैरव-पद्मावती-कल्प आदि अनेक मंत्रशास्त्रोंमें विधिविधानपूर्वक विस्तारके साथ वर्णन है।

यत्पुनः पूरणं कुम्भो रेचनं दहनं प्लवः ।
सकलीकरणं मुद्रा-मन्त्र-मंडल-धारणाः ॥२१३॥
कर्माऽधिष्ठातृ-देवानां संस्थानं लिङ्गमासनम् ।
प्रमाणं वाहनं वीर्यं जातिर्नाम-द्युतिर्दिशा ॥२१४॥
भुज-वक्त्र-नेत्र-संख्या[1] भावः क्रूरस्तथेतरः ।
[2]वर्णः स्पर्शः स्वरोऽवस्था वस्त्रं भूषणमायुधम् ॥२१५॥
एवमादि यदन्यच्च शान्त-क्रूराय कर्मणे[3] ।
[4]मंत्रवादादिषु प्रोक्तं तद्ध्यानस्य परिच्छदः ॥२१६॥

'इसके अलावा जो पूरण, कुम्भन, रेचन, दहन, प्लवन, सकलीकरण, मुद्रा, मंत्र, मडल, धारणा, कर्माधिष्ठाता देवोंका संस्थान-लिङ्ग- आसन-प्रमाण- वाहन- वीर्य-जाति- नाम-ज्योति-दिशा-मुखसंख्या-नेत्रसख्या-भुजासख्या-क्रूरभाव-शान्तभाव-वर्ण-स्पर्श-स्वर-अवस्था-वस्त्र-भूषण-आयुध इत्यादि और जो कुछ अन्य शान्त तथा क्रूरकर्मके लिये मंत्रवाद आदि ग्रन्थोंमें कहा गया है वह सब ध्यानका परिकर है—यथाविवक्षित ध्यानकी उपकारक सामग्री है।'

व्याख्या—इन चारों पद्योंमें जिन बत्तीस विषयोंका नामो-

१. मा वक्त्रनेत्रभुजासंख्या; मु सख्यां। २. मु वर्णस्पर्शस्वरोऽ।
३. ज कर्मणा। ४. सि जु मंत्रवादिषु यत्प्रोक्तं।

ल्लेख है और 'आदि' शब्दके द्वारा तत्सदृश तथा तत्सम्बद्ध जिन दूसरे विषयोंका सूचन है वे सब शान्त-क्रूरादिकर्म-विषयक विविध ध्यानोंके यथायोग्य परिवार हैं अथवा उनकी सहायक सामग्रीके रूपमें स्थित हैं। उनके स्वरूपादिका वर्णन मंत्रवादादि-विषयक ग्रन्थोंमे—विद्यानुवादादि जैसे शास्त्रोंमें—किया गया है, उन परसे उनको जानना चाहिये।

यहाँ थोड़े शब्दोमे ध्यानके लिए जानने योग्य उपयोगी विषयों-की जो सूचना की गई है वह बड़ी महत्वपूर्ण है और उससे इस बातका पता चलता है कि ध्यानका विषय कितना गहन-गम्भीर है, कितना बडा उसका परिवार है और कितनी अधिक सतर्कता, सावधानी तथा जानकारीकी वह अपेक्षा रखता है। सब सामग्री-से सुसज्जित होकर जब किसी सिद्धिके लिये ध्यान किया जाता है तभी उसमें यथेष्ट सफलताकी प्राप्ति होती है। जो अधूरे ज्ञान, अधूरे श्रद्धान और अधूरी साधन-सामग्रीके बल पर किसी प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करना चाहता है तो यह उसकी भूल है, उसे ऐसी अवस्थामे यथेष्ट-सिद्धिको प्राप्ति नही हो सकती।

लौकिकादि सारी फल-प्राप्तिका प्रधान कारण ध्यान

यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाऽग्रकारणम् ॥२१७॥

'इस लोकसम्बन्धी जो फल है उसका और परलोकसम्बन्धी जो फल है उसका भी ध्यान ही मुख्य कारण है—ध्यानसे दोनों लोकसम्बन्धी यथेच्छित फलोकी प्राप्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ, ध्यानके फल-कथनका उपसंहार करते हुए, स्पष्ट घोषणा की गई है कि लौकिक और पारलौकिक जो कुछ भी फल है उसकी प्राप्तिका प्रधान कारण ध्यान ही है। इससे ध्यान-

का माहात्म्य स्पष्ट हो जाता है। इस विषयमें श्रीसोमदेवाचार्यने "यशस्तिलक"के निम्न पद्यमें लिखा है कि ऐसा कोई गुण, ज्ञान, दृष्टि या सुख नहीं है जो ध्यानके प्रकाशमें अन्धकार-समूहके नाश हो जाने पर नहीं प्राप्त होता है—

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम्।
यद्योगोद्योतिते न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ।। कल्प ४० ।।

ध्यानका प्रधान कारण गुरूपदेशादि-चतुष्टय

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाऽभ्यासः स्थिरं मनः ।।२१८।।

'और उधर ध्यान-सिद्धिका मुख्य कारण यह चतुष्टय है, जो कि गुरु-उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास और स्थिरमनके रूपमें है।'

व्याख्या—जिस ध्यानका माहात्म्य ऊपर ख्यापित किया गया है उसकी सिद्धिके प्रधान कारण ये चार हैं—१ सद्गुरुका वह उपदेश जो उस ध्यानके स्वरूपादिका यथार्थबोध करा सके, २ सद्गुरुके उपदेश-द्वारा प्राप्त ज्ञानका सम्यक्श्रद्धान, ३ ज्ञान और श्रद्धानके अनुरूप निरन्तर अभ्यास, ४ अभ्यास-द्वारा मनकी दृढताका सम्पादन। सद्गुरु वही हो सकता है जो उस ध्यान-विषयका यथार्थज्ञाता हो—चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष—अथवा जिसने अभ्यासादिके द्वारा उस विषयकी सिद्धिको प्राप्त किया हो।

यहाँ ध्यानके क्रमबद्ध चार मुख्य हेतुओंका निर्देश किया गया है। यो ध्यानके और भी अनेक हेतु हैं, जिन्हें प्रस्तुतग्रन्थमें ध्यानकी सामग्री कहा गया है (७५) वह सब सामग्री भी ध्यानके हेतु-रूपमें ही स्थित है; क्योंकि उसके बिना यथेष्ट ध्यान नहीं बनता।

वृहद्द्रव्यसंग्रहकी संस्कृत-टीकामें उद्धृत निम्न पद्यमें वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रन्थता (असंगता), समचित्तता और परीषह-जय इन पाँचको ध्यानके हेतु बतलाया है, जो सब ठीक हैं:—

[1]वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषह-जयश्चेति पंचैते ध्यानहेतवः ॥ पृ० २०१॥

इसी तरह यशस्तिलकके अष्टमाश्वासगत 'ध्यानविधि' नामक ४०वें कल्पमें वैराग्य, ज्ञानसम्पत्ति, असंगता, स्थिरचित्तता और ऊर्मिस्मय-सहनता इन पाँचको योग(ध्यान)के कारण बतलाया है :—

वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसंगः स्थिरचित्तता।
ऊर्मि-स्मय-सहत्वं च पंच योगस्य हेतवः॥

'ऊर्मि' शब्द यहाँ भूख, प्यास, शोक, मोह, रोग और भयादिकी वेदनाजन्य लहरोंका वाचक है और 'स्मय' शब्द मद तथा विस्मय दोनोंके लिए प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इन सबका सहन परीषह-जयमें आ जाता है।

प्रदर्शित-ध्यानफलसे ध्यानफलको ऐहिक ही माननेका निषेध

अत्रैव माऽऽग्रहं कार्षुर्यद्ध्यान-फलमैहिकम्।
इदं हि ध्यानमाहात्म्य-ख्यापनाय प्रदर्शितम् ॥२१९॥

'इस ध्यान-फलके विषयमें किसीको यह आग्रह नहीं करना चाहिये कि ध्यानका फल ऐहिक (लौकिक) ही होता है; क्योंकि यह ऐहिक फल तो यहाँ ध्यानके माहात्म्यकी प्रसिद्धिके लिए प्रदर्शित किया गया है।'

---

१. ज्ञानांकुशमें यही पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है:—
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समभावना।
जयं परिषहाणां च पंचैते ध्यानहेतवः ॥४२॥

व्याख्या—पिछले पद्योंमें समरसीभावरूप ध्यानका कुछ उदाहरणों-द्वारा जो फल निर्दिष्ट किया गया है उस परसे किसीको यह भ्रान्ति (गलतफहमी) न होनी चाहिये कि ध्यानका फल लौकिक ही होता है। लौकिक जन लौकिक फलकी अनुभूतिके विना पारमार्थिक फलको ठीक समझ नहीं पाते। अत जगज्जनोंके हृदयोंमें ध्यानके माहात्म्यको ख्यापित करनेके लिये लौकिक फल-प्रदर्शनका आश्रय लिया गया है। यही इस पद्यका आशय है।

ऐहिक फलार्थियोंका ध्यान आर्त्त या रौद्र

[1]तद्ध्यानं रौद्रमार्त्तं वा यदैहिक-फलार्थिनाम्।
तस्मादेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥२२०॥

'ऐहिक (लौकिक) फलके चाहनेवालोंके जो ध्यान होता है वह या तो आर्त्त ध्यान है या रौद्रध्यान। अतः इस आर्त्त तथा रौद्रध्यानका परित्याग कर (मुमुक्षुओंको) धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।'

व्याख्या—यहाँ उस ध्यानको (यथास्थिति) आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान बतलाया है जो लौकिक फल चाहनेवालोंके द्वारा उस फलकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। इसलिये जो एकमात्र मुक्तिके अभिलाषी हैं उन्हें इन दोनो ध्यानोंका त्यागकर धर्म्य-ध्यान तथा शुक्लध्यानका अवलम्बन लेना चाहिये, ऐसी प्रेरणा की गई है। धर्म्य तथा शुक्लध्यानके द्वारा लौकिक फलोंकी स्वतः प्राप्ति होती है, यह बात पहले प्रदर्शित की जा चुकी है। और इसलिए किसीको यहाँ यह न समझ लेना चाहिये कि आर्त्तध्यान या रौद्रध्यानके विना लौकिक फलकी प्राप्ति होती ही नहीं।

आर्त्तध्यान छठे गुणस्थानवर्ती मुनियो तकके होता है। इसीसे अनेक मुनि अपने लिए, दूसरोके लिए अथवा धर्म-शासनकी

१. मु यद्ध्यान।

प्रभावनाके लिये ऐसे कार्य करते हुए देखे-सुने जाते हैं जो लौकिक विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं। आर्त्तध्यानके भी व्यवहार-दृष्टिसे शुभ और अशुभ ऐसे दो भेद बनते हैं।

वह तत्त्वज्ञान जो शुक्ल ध्यानरूप है

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।
शुभाऽशुभ-मलाऽपायाद्विशुद्धं शुक्लमभ्यधुः ॥२२१॥

'अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें जो उदासीन—अनासक्तिमय—तत्त्वज्ञान होता है वह शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके मलके नाश होनेके कारण विशुद्ध शुक्लध्यान कहा गया है।'

व्याख्या—यहाँ अपूर्वकरण आदि (९वें से १२वें) गुणस्थानोंमें होनेवाले उस तत्त्वज्ञानको निर्मल-शुक्लध्यान बतलाया है जो ज्ञेयोंके प्रति कोई आसक्ति न रखता हुआ उदासीन अथवा उपेक्षाभावको प्राप्त होता है, और इसका कारण यह निर्दिष्ट किया है कि वहाँ वह ज्ञान शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके भाव-मलोंसे रहित होता है।

शुक्लध्यानका स्वरूप

[1]शुचिगुण-योगाच्छुक्लं[2] कषाय-रजसः क्षयादुपशमाद्वा[3]।
माणिक्य-शिखा-वदिदं सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च ॥२२२॥

'कषाय-रजके क्षय होने अथवा उपशम होनेसे और शुचि-पवित्र गुणोंके योगसे शुक्लध्यान होता है और यह ध्यान माणिक्य-

१. यह पद्य मुद्रित 'ज्ञानार्णव' के ४२ वें प्रकरणमें ५ वें पद्यके अनन्तर उद्धृत है।

२. सर्वा० सि० तथा तत्त्वा० वा० ९-२८।

३. कषाय-मल-विश्लेषात् शुक्लशब्दाभिधेयताम्-
उपेयिवदिदं ध्यानं······(आर्ष २१-१६६)

शिखाकी तरह सुनिर्मल तथा निष्कम्प रहता है।'

व्याख्या—यहाँ, शुक्लध्यानका स्वरूप उसकी निरुक्ति-द्वारा प्रतिपादन करते हुए, बतलाया है कि यह ध्यान शुचि-गुणोंके संयोगसे शुक्लसंज्ञाको प्राप्त है। शुचि शब्द यहाँ श्वेत, शुद्ध, पवित्र तथा निर्मल अर्थोंका वाचक है। वस्त्र जिस प्रकार मैलके दूर हो जाने पर शुचिगुणके योगसे शुक्ल कहलाता है उसी प्रकार कषायमलसे रहित होने पर आत्माका जो अपने शुद्धस्वभावमें परिणमन है वह भी शुक्ल कहा जाता है। मिट्टी-रेतादिसे मिला मलिन जल जिस प्रकार उस मल-द्रव्यके पूर्णतः विश्लेषणरूप क्षयको अथवा उदयाभावरूप उपशमको प्राप्त होता है तो वह निर्मल कहा जाता है उसी प्रकार कषायमलसे मलिन आत्मा भी जब उस मलके क्षयभाव अथवा उपशमभावको प्राप्त होता है तब वह सुनिर्मल कहा जाता है। शुक्ल भी उसीका नामान्तर है। इस ध्यानमें चूँकि शुचिगुणविशिष्ट परम-शुद्धात्माका ध्यान होता है इसलिये इसे शुक्लध्यान नाम दिया गया है। यह ध्यान माणिक्य (रत्न) की ज्योतिके समान कम्पविहीन होता है—डोलता नहीं।

मुमुक्षुको नित्य ध्यानाभ्यासकी प्रेरणा

[1]रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम्।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्! मुमुक्षसे ॥२२३॥

'हे योगिन्! यदि तू मोक्ष चाहता है तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको ग्रहण करके बन्धके कारण-रूप मिथ्यादर्शनादिकके त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्यानका अभ्यास कर।'

---

१. सि जु रत्नत्रयमयो भूत्वा।

व्याख्या—यहाँ मोक्षके इच्छुक योगीको ध्यानके निरन्तर अभ्यासकी प्रेरणा की गई है और उस अभ्यासके पूर्व मिथ्यादर्शनादिरूप बन्धके कारणोंको त्यागकर मोक्षके हेतुरूप सम्यग्दर्शनादिमय रत्नत्रयके ग्रहणकी आवश्यकता व्यक्त की है अर्थात् मुमुक्षुको बन्धहेतुओंके त्याग और मोक्षहेतुओंके ग्रहणपूर्वक ध्यानका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये, ऐसा प्रतिपादन किया है।

उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासका फल

ध्यानाऽभ्यास-प्रकर्षेण [1]त्रुटघन्मोहस्य योगिनः ।
चरमाऽङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवाऽन्यस्य[2] च क्रमात् ।।२२४

'ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहको नाश करनेवाले चरमशरीरी योगीके तो उसी भवमें मुक्ति होती है और जो चरमशरीरी नहीं उसके क्रमशः मुक्ति होती है।'

व्याख्या—यहाँ, उत्कृष्ट ध्यानके फलका निर्देश करते हुए, बतलाया है कि जो योगी उत्कृष्ट-ध्यानाभ्यासके द्वारा मोहका नाश करनेमें प्रवृत्त है वह यदि चरमशरीरी है तो उसी भवसे मुक्तिको प्राप्त होता है, अन्यथा कुछ और भव लेकर क्रमशः मुक्तिको प्राप्त करता है।

तथा ह्यचरमाऽङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाऽशुभकर्मणाम् ।।२२५।।
आस्रवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम् ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ।।२२६।।

---

१. सम्पादनोपयुक्त प्रतियोंमें 'तुघन्' पाठ पाया जाता है, जो ठीक नहीं; वह 'तुदन् या त्रुटघन्' होना चाहिये।

२. मु तदा अन्यस्य।

'तथा ध्यानका अभ्यास करनेवाले अचरमाङ्ग योगीके सदा अशुभकर्मों की निर्जरा होती है और (अशुभकर्मास्रवके निरोध स्वरूप) संवर होता है। साथ ही उसके प्रतिक्षण पुण्यकर्म प्रचुर मात्रामें आस्रवको प्राप्त होते हैं, जिनसे यह योगी कल्पवासी देवों-में महाऋद्धिधारक देव होता है।'

व्याख्या—यहाँ उस योगीके जो चरमशरीरी नहीं—भवधा-रणरूप संसार-पर्यायका जिसके अभी अन्त नहीं आया—उत्कृष्ट ध्यानके फलका निरूपण करते हुए यह बतलाया है कि उसके सम्पूर्ण अशुभकर्मोंकी निर्जरा होजाती है और किसी भी अशुभ-कर्मका आस्रव नहीं होता, प्रत्युत इसके क्षण-क्षणमें बहुत अधिक पुण्यकर्मोंका आस्रव होता है जिन सबके फलस्वरूप वह कल्पवासी देवोंमें किसी देवपर्यायको पाकर महाऋद्धिका धारक देव होता है।

तत्र सर्वेन्द्रियाल्हादि[1]मनसः प्रीणनं परम् ।
सुखाऽमृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुर-सेवितम् ॥२२७॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसम्पदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगम्बरीं[2]श्रितः ॥२२८
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधम् ।
विधूयाऽष्टाऽपि कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयम् ॥२२९॥

'वहाँ—उस देवपर्यायमे—वह सर्व इन्द्रियोंको आल्हादित और मनको परम तृप्त करनेवाले सुखरूपी अमृतको पीता हुआ चिरकाल तक सुरोंसे सेवित रहता है। वहाँसे मर्त्यलोकमें अवतार लेकर, चक्रवर्ती आदिकी सम्पदाओंको चिरकाल तक भोगकर, फिर उन्हे स्वयं छोड़कर, दैगम्बरी दीक्षाको आश्रय किये हुए वह

१. मु मे मोदि। २. ज दिगबरी।

वज्रकाय-योगी चार प्रकारके शुक्लध्यानको ध्याकर और आठों कर्मोंका नाश करके अक्षय-मोक्षपदको प्राप्त करता है।'

व्याख्या—यहाँ, उस उत्कृष्ट ध्यानाभ्यासी अचरमशरीरी योगीको स्वर्गमें महर्द्धिक देव होने पर चिरकाल तक जिस सुखकी प्राप्ति होती है उसकी अतिसंक्षेपमें सूचना करनेके बाद, यह बतलाया गया है कि वह योगी स्वर्गसे मर्त्यलोकमें अवतार लेकर बज्रशरीरका धारक हुआ चक्रवर्ती आदि किसी महान् राजपुरुषके पदसे विभूषित होता है, चिरकाल तक उस पदकी सपदाको भोगता है, फिर उससे विरक्त होकर दैगम्बरी जिन-दीक्षा धारण करता है और चारों प्रकारके शुक्लध्यानों-द्वारा आठों कर्मोंका नाश करके अक्षय-मोक्षपदको प्राप्त करता है, यहा उसके पूर्वभव-सम्बन्धी ध्यानपर्यायमे अशरीरी होनेके कारण मोक्ष-प्राप्तिका प्रायः क्रम है।

स्वर्गके जिस सुखकी सूचना प्रथम पद्य (२२७)मे की गई है उसमे इन्द्रियो तथा मनको अतीव प्रसन्न करनेवाले उस सारे ही सुखामृतका समावेश हो जाता है जिसकी उपमा मर्त्यलोकके किसी भी सासारिक सुखको नहो दो जा सकती। इसीसे श्रीपूज्य-पादाचार्यने 'इष्टोपदेश में **'नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौ-कसामिव'** इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि स्वर्गका वह सुख अपनी उपमा आप ही है।

मोक्षका स्वरूप और उसका फल

आत्यन्तिक-स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीव-कर्मणोः ।
स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिकाः गुणाः ॥२३०॥

'जीव और कर्मके प्रदेशोंका स्वहेतुसे—बन्ध-हेतुओंके अभाव तथा निर्जरारूप निजी कारणसे—**जो आत्यन्तिक विश्लेष है**—

एक दूसरेसे सदाके लिये अतीव पृथक्त्व है—**वह मोक्ष अथवा मुक्ति है जिसके फल हैं ज्ञानादिक क्षायिकगुण**—ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होनेवाले आत्माके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख (सम्यक्त्व), अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध नामके स्वाभाविक मूल गुण।

व्याख्या—जिस मोक्षकी प्राप्तिके लिये ध्यानकी प्रेरणा की गई है और जिसके लिये मुमुक्षुओंका सारा प्रयत्न है उसका क्या स्वरूप है और क्या फल है, उसीको यहाँ अत्यन्त संक्षिप्तरूपसे बतलाया है। मोक्षका स्वरूप है बन्धावस्थाको प्राप्त जीव और कर्मोंके प्रदेशोंका आत्यन्तिक विश्लेषण—सदाके लिये एक दूसरेसे पृथक् हो जाना अथवा किसी भी कर्मका किसी भी प्रकारका सम्बन्ध आत्माके साथ न रहना। यह विश्लेषण जिन कारणोंसे होता है वे हैं—बन्ध-हेतुओंका अभाव (संवर) और निर्जरा। एकसे आत्मामें नये कर्मोंका प्रवेश सर्वथा रुक जाता है और दूसरेसे सचित कर्मोंका पूर्णतः निकास अथवा बहिष्कार हो जाता है। इसीसे 'तत्त्वार्थसूत्र' में '**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः**' यह मोक्षका स्वरूप निर्दिष्ट किया है। इस मोक्षका फल ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत होनेवाले आत्माके अनन्तबोधस्वरूप केवलज्ञान, अनन्तदर्शनरूप केवलदर्शन, स्वाभाविक स्वात्मोत्थ सुख और अप्रतिहतअनन्तवीर्यरूप गुणोंका पूर्णतः विकास है।

मुक्तात्माका क्षणभरमें लोकाग्र-गमन

कर्म-बन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या-[1] स्वभावतः।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

---

१. सि यु हूर्ध्वं

'कर्मों के बन्धनोंका विध्वंस और ऊर्ध्वगमनका स्वभाव होनेसे मुक्त आत्मा एक क्षण(समय)में लोकशिखरके अग्रभागको प्राप्त होता है—वहाँ पहुँच जाता है।'

व्याख्या—मोक्ष होने पर यह आत्मा कहाँ जाता है, क्यों कब जाता अथवा कौन ले जाता है और कितने समयमें जाता है इन तीनों बातोंका इस पद्यमें निर्देश किया गया है। जानेका स्थान लोक-शिखरका अग्रभाग है, वहाँ इसे कोई लेकर नहीं जाता, बन्धनका अभाव हो जानेसे गतिका परिणाम ही ऊपरको होता है; जैसे मृत्तिकासे लिप्त तुम्बी जो पानीमें डूबी रहती है वह लेपके उतर जाने पर एकदम ऊपर आ जाती है। दूसरे जीवका ऊर्ध्वगमन-स्वभाव होनेसे भी वह लोकके अग्रभाग तक पहुँच जाता है; जैसे अग्नि-शिखा किसी पवनादि बाधक कारणके न होने पर स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। मुक्तात्माको लोकशिखरके अग्रभाग पर पहुँचनेके लिये केवल एक क्षण-परिमित समय लगता है। क्षण-कालके उस सबसे छोटे (सूक्ष्मसे सूक्ष्म) अंशको कहते हैं जिसका विभाग नहीं होता; समय भी उसका एक नामान्तर है; जैसा कि 'तत्त्वार्थसूत्र'में जीवकी अविग्रहा-गतिका निर्देश करते हुए उसे एकसमया[1] बतलाया है।

ऊर्ध्वगति स्वभाव होने पर भी मुक्तात्मा लोकशिखरके अग्रभाग पर ही क्यों ठहर जाता है—आगे अलोकाकाशमें गमन क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर इतना ही है कि अलोकाकाशमें गति-सहायक 'धर्मद्रव्य'का अभाव है, जिसे 'तत्त्वार्थसूत्र'में 'धर्मास्तिकायाभावात्' इस सूत्र (१०-८) द्वारा व्यक्त किया गया है, और इससे यह साफ मालूम होता है कि अनुकूल निमित्तके अभावमें स्वभाव अथवा केवल उपादानकारण अपना कार्य करनेमें समर्थ

१. एक समयाऽविग्रहा। (त० सू० २-२९)

नहीं होता। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कार्योत्पत्तिमें बाह्य और अन्तरंग (निमित्त तथा उपादान) दोनो प्रकारके कारणों-सामग्रीको समग्रता।ो द्रव्यगत-स्वभावके रूपमें उल्लेखित किया है[1]।

मुक्तात्माके आकारका सहेतुक निर्देश

पुंसः संहार-विस्तारौ संसारे कर्म-निर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः क्षयात्तद्धेतु-कर्मणाम् ॥२३२॥
ततः सोऽनन्तर-त्यक्त-स्वशरीर-प्रमाणतः ।
किंचिदूनस्तदाकारस्तत्रास्ते स्व-गुणात्मकः ॥२३३॥

'संसारमें जीवके संकोच और विस्तार दोनों कर्म-निर्मित होते हैं। मुक्ति प्राप्त होने पर उसके वे दोनों नहीं होते; क्योंकि उनके हेतुभूत कर्मोंका—नामकर्मकी प्रकृतियोंका—क्षय हो जाता है। अतः मुक्तिमें वह पुरुष तत्पूर्व छोड़े हुए अपने शरीरके प्रमाणसे कुछ ऊन-जितना तदाकार-रूपमें अपने गुणोंको आत्मसात् किये—अपनाये हुए— रहता है।'

व्याख्या—संसारावस्थामें जिस प्रकार जीवके आकारमें हानि-वृद्धि अथवा घट-बढ़ होती है—वह कर्मोदयवश जिस जातिके शरीरको धारण करता है उस शरीरके आकारका ही हो रहता है, उस शरीरमें भी यदि बाल्यावस्थादिके कारण हानि-वृद्धि होती है तो उस आत्माके आकारमें भी हानि-वृद्धि हो जाती है—उस प्रकार मुक्तावस्थामें नहीं होती; क्योंकि वहाँ उस हानि-वृद्धिके निमित्तभूत 'नाम'कर्मका अभाव हो जाता है। ऐसी स्थितिमें मुक्तात्माका आकार प्रायः उस शरीर ही जितना रह जाता है

१. बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥(स्वयंभू०)

जिसे त्याग कर वह मुक्त हुआ है और वह उस देहके प्रतिबिम्ब-रूप रुचिराकार ही होता है[1]।

यहाँ प्रयुक्त हुआ 'किंचित् ऊन' विशेषण आत्म-प्रदेशोंके आकारमें हानि अथवा सुकड़नरूप संकोचका वाचक नहीं है; बल्कि उस त्यक्त शरीरके नख-केश-त्वचादि-रूप जितने अंशोंमें आत्म-प्रदेश नही थे उनकी दृष्टिसे आकारमें कुछ कमोका वाचक है। इसके अतिरिक्त शरोरके मुख, कान, नाक तथा पेट जैसे अंगोंमें कुछ पोल भी होती है जिसमे आत्म-प्रदेश नहीं होते। मुक्तात्माओंके आकारमें वह पोल नहीं रहती, उनके आत्म-प्रदेश घन-विवरता अथवा निश्छिद्रावस्थाके रूपमें उसी प्रकार स्थित होते हैं जिस प्रकार मोमका पुतला अग्निसे पिघल कर निकल जाने पर सांचा (मूषा)के भीतर निरुद्ध आकाश स्थित होता है।[2]

---

१. अन्याकाराप्तिहेतुर्न च भवति परो येन तेनाऽल्पहीनः।
प्रागात्मोपात्तदेहप्रतिकृतिरुचिराकार एव ह्यमूर्तः ॥
(सि० भ० पूज्यपादः)
"किंचिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारी जीवघनाकृतिः ॥" (आर्ष २१-११५)

२. "अमूर्तोऽप्ययमन्त्याङ्गसमाकारोऽलक्षणात् ।
"मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन् ॥" (आर्ष २१-२०३)
"घनविवरतया किंचिदूनाकृतिः ।" (अध्यात्मतरं०, सोमदेवः)
"घनविवरतया घना निविडा विवराश्छिद्रास्तेषां भावस्तत्ता तया मदनहीन-मूषागर्भवदतीतानन्तर-तन्वाकार-जीवघनैकरूपत्वाभि-लिल-सुषिर-प्रदेशानामित्यर्थः।" (अध्यात्मतर०टी., गणधरकीर्तिः)
"किंचिदूनाः निविडरूपतया तदात्मप्रदेशानामवस्थानात् नख-त्वगादिशरीरपरिमाणहीनत्वाच्च । ......गतसिक्थमूषागर्भे यादृशाकारस्तादृशाकाराः सिद्धाः भवन्ति ।"
—प्राकृत सिद्धभ० टीकायां, प्रभाचन्द्रः

यहाँ 'स्वगुणात्मकः' विशेषण अपना खास महत्त्व रखता है और इस बातको सूचित करता है कि मुक्त होने पर गुणोंका नाश अथवा उनमें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती—वे सब गुण सदा सहभावी होनेसे उस आकारप्रमाण ही रहते हैं।

प्रक्षीणकर्माकी स्वरूपमें अवस्थिति और उसका स्पष्टीकरण

[1]स्वरूपाऽवस्थितिः पुंसस्तदा प्रक्षीणकर्मणः ।
नाऽभावो नाऽप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥२३४॥

'तब—सम्पूर्ण कर्म-बन्धनोंसे छूट जाने पर—उस प्रक्षीण-कर्मा पुरुषकी स्वरूपमें अवस्थिति होती है, जो कि न अभावरूप है, न अचैतन्यरूप है और न अनर्थक चैतन्यरूप है।'

व्याख्या—प्रकर्षध्यानके बलसे जिस आत्माके समस्त कर्म-बन्धन अत्यन्त क्षयको प्राप्त हो जाते हैं—द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्मके रूपमें किसी भी प्रकारके कर्मका कोई सम्बन्ध आत्माके साथ अवशिष्ट नहीं रहता—और इसलिये वह ऊर्ध्व-गमन-स्वभावसे क्षणभरमें लोक-शिखरके अग्रभाग पर पहुँच जाता है; तब उसकी जो स्थिति होती है उसे यहाँ 'स्वरूपावस्थिति' बतलाया है, जो कि देहादिकसे भिन्न और वैभाविक परिणतिसे रहित स्वगुणोंमें शाश्वत स्थितिके रूपमें है। श्रीपूज्यपादाचार्यने सिद्धभक्तिमें इसे 'स्वात्मोपलब्धि' के रूपमें उल्लेखित किया है, जो कि उस सिद्धिका लक्षण है, जिसकी प्राप्ति उन द्रव्यकर्म-भाव-कर्मादि-रूप दोषोंके अभावसे होती है जो अनन्तज्ञानादि प्रवर-गुण-गणोंके विकासको रोके हुए हैं, और वह उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि सुवर्ण-पाषाणसे अग्नि आदिके योग्य प्रयोग-

---

१. आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्याऽन्तर्मलक्षयात् ।
नाऽभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥

—यशस्तिलक आ० ६, पृ० २८०

द्वारा पाषाण-भावके विनष्ट होने पर हेम-भावकी उपलब्धि होती है[1]।

इस सिद्धिका नाम ही मुक्ति है, जिसे बौद्ध प्रदीप-निर्वाणके समान अभावरूप, वैशेषिक बुद्ध्यादि वैशेषिक-गुणोंके उच्छेदमय अचैतन्यरूप और सांख्य ज्ञेयके ज्ञानसे रहित अनर्थक चैतन्यरूप मानते हैं। इन तीनोंकी मान्यताओंको लक्ष्यमें लेकर यहाँ पद्यके उत्तरार्धमें तीन वाक्योंकी सृष्टि की गई है और उनके द्वारा क्रमशः यह सूचित किया गया है कि उक्त स्वरूपावस्थिति—सिद्धि अथवा मुक्ति—अभावरूप नहीं है, अचैतन्यरूप भी नहीं है और न अनर्थक-चैतन्यरूप ही है; किन्तु सत्‌रूप है—सत्स्वरूप आत्माका कभी विनाश नहीं होता है; आत्मा चैतन्यगुण-विशिष्ट है—उसके सदा सहभावी चेतनागुणका कभी अभाव नहीं होता और चेतना [2]ज्ञानरूपा है, इसलिये वह कभी अनर्थक नहीं होती आत्माका ज्ञान-दर्शन लक्षण होनेसे सदा सार्थक बनी रहती है।

आगे चार पद्योंमें उस स्वरूप और स्वरूपावस्थितिको और स्पष्ट किया गया है:—

सब जीवोंका स्वरूप

[3]स्वरूपं सर्वजीवानां स्व-परस्य प्रकाशनम्।
भानु-मण्डलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम् ॥२३५॥

---

१. सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुण गणोच्छादि-दोषापहारात्।
योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥ (सि० भ०)

२. चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि। (तत्त्वानु० १६८)

३. अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थुमभंति करि एहउ वत्थु-सहाउ ॥

—परमात्मप्र० १०१

'सब जीवोंका स्वरूप स्वका और परका प्रकाशन है। सूर्य-मण्डलकी तरह परसे उनका प्रकाशन नहीं होता।'

व्याख्या—पिछले पद्यमे मुक्तात्माके स्वरूपमे अवस्थितिकी जो बात कही गई है वह स्वरूप क्या है उसीका इस पद्यमें निर्देश किया गया है। वह स्वरूप सूर्य-मण्डलकी भांति स्व-पर-प्रकाशन है और वह किसी एकका नही, सकल जीवोंका है। सूर्य-मण्डलका प्रकाशन जिस प्रकार किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा नहीं होता उसी तरह आत्म-स्वरूपका प्रकाशन भी किसी दूसरे द्रव्यके द्वारा नही होता। इसी लिए उसे स्वसंवेद्य कहा गया है।

स्वरूपस्थितिकी दृष्टान्त-द्वारा स्पष्टता

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पुरुषः[1]।
यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके[2] मले ॥२३६॥

'जिस प्रकार मणि-रत्न ससर्गको प्राप्त हुए मलके स्वकारणोंसे क्षयको प्राप्त हो जाने पर स्वरूपमें स्थित होता है उसी प्रकार जीवात्मा कर्ममलके स्वकारणोंसे क्षीण हो जाने पर स्वरूपमे स्थित होता है।'

व्याख्या—यहाँ सांसर्गिक मलसे रहित मणिकी स्वरूपावस्थितिके दृष्टान्त-द्वारा कर्ममलसे रहित हुए आत्माकी स्वरूपावस्थितिको स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार सांसर्गिक मलके दूर हो जाने पर मणि-रत्नका अभाव नहीं होता, वह कान्तिरहित नहीं होता और न उसकी कान्ति निरर्थक ही होती है, उसी प्रकार सांसर्गिक कर्ममलसे रहित हुआ जीवात्मा अभावको प्राप्त नही होता, न अपने स्वाभाविक चैतन्यगुणसे रहित होता है और न उसका चैतन्यगुण निरर्थक ही होता है।

---

१. मु पौरुषः। २. मे ज ससर्गिके।

स्वात्मस्थितिके स्वरूपका स्पष्टीकरण

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानाध्यवस्यति[1] ।
न रज्यति[2] न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणम् ॥२३७
त्रिकाल-विषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितम् ।
जानन्पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥
अनन्त-ज्ञान-दृग्वीर्य-वैतृष्ण्य-मयमव्ययम् ।
सुखं चाऽनुभवत्येष तत्राऽतीन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥

'मुक्तिको प्राप्त हुआ जीवात्मा न तो मोह करता है, न संशय करता है, न स्व तथा पर-पदार्थों के प्रति अनध्यवसायरूप प्रवृत्त होता है—स्व-पर पदार्थोंसे अनभिज्ञ रहता है—और न द्वेष करता है, किन्तु प्रतिक्षण स्वमें स्थित रहता है। उस समय वह सिद्धप्रभु त्रिकाल-विषयक ज्ञेयको और आत्माको यथावस्थित-रूपमें जानता-देखता हुआ उदासीनता - उपेक्षाको धारण करता है और मुक्तिमें यह अच्युत सिद्ध उस अतीन्द्रिय अविनाशी सुखका अनुभव करता है जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तवैतृष्ण्यरूप होता है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिको प्राप्त शुद्धात्माके स्वात्मस्थित-स्वरूपका स्पष्टीकरण कुछ विशेषताके साथ किया गया है और अन्तमें उसके उस अतीन्द्रिय अविनाशी सुखका उल्लेख किया है जिसे वह अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और तृष्णाके अनन्तअभाव अथवा समताके अनन्तसद्भावरूपमें अनुभव-करता है।

इस पद्य परसे २३४वें पद्यका विषय और स्पष्ट होजाता है

१. मु ब स्वार्थान (ना) ध्यवस्यति। २. मु रज्यते।

और वह यह कि मुक्तिको प्राप्त आत्मा अभावरूप नहीं होता, न चैतन्यगुणसे शून्य होता है और न उसका चैतन्य अनर्थक ही होता है, वह तो अपने स्वभावमें स्थित हुआ ज्ञानादि-गुणोंसे सदा युक्त एव विशिष्ट रहता है और त्रिकाल-विषयोंको जानते—देखते रहने तथा अपने उक्त सुखका अनुभव करते रहनेसे उसका चैतन्य कभी अनर्थक नही होता—सदा सार्थक बना रहता है।

मोक्षसुख-विषयक शंका-समाधान

ननु चाऽक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखम् ॥२४०॥
इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाऽद्यापि वत्स ! त्वं वेत्सि स्वरूपं सुख-दुःखयोः ॥२४१॥

'यहाँ कोई शिष्य पूछता है कि 'सुख तो इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयोंको भोगनेवालेके होता है, इन्द्रियोंसे रहित मुक्त-जीवोंके वह सुख कैसा ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—हे वत्स ! तू जो मोहसे ऐसा मानता है वह तेरी मान्यता ठीक अथवा कल्याणकारी नहीं है; क्योंकि तूने अभीतक (वास्तवमें) सुख-दुःखके स्वरूपको ही नहीं समझा है—इसीसे सांसारिक सुखको, जो वस्तुतः दु खरूप है, सुख मान रहा है।'

व्याख्या—पिछले एक पद्यमें जिस अतीन्द्रिय सुखके अनुभवनको बात कही गई है उसके विषयमें यहाँ जो शका उठाई गई है वह बहुत कुछ स्पष्ट है। उत्तरमें आचार्यने शिष्यसे इतना ही कहा है कि यह तेरा मोह है जिसके कारण तू इन्द्रियों-द्वारा गृहीतविषयोंके उपभोक्ताके ही सुखका होना मानता है, मालूम

होता है तुझे अभी तक सुख-दुःखके वास्तविक स्वरूपका पता नहीं है।

अब आचार्यमहोदय सुखके मोक्षसुख और सांसारिक-सुख ऐसे दो भेद करते हुए उस सुख-दुःखके वास्तविक स्वरूपको बतलाते हैं :—

मोक्ष-सुख-लक्षण

आत्माऽऽयत्तं निराबाधमतीन्द्रियमनश्वरम् ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥२४२॥

'जो घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ है, स्वात्माधीन है—किसी दूसरेके आश्रित नहीं—, **निराबाध है**—जिसमें कभी कोई प्रकारकी बाधा उत्पन्न नहीं होती—,**अतीन्द्रिय है**—इन्द्रियों-द्वारा ग्राह्य नहीं—**और अनश्वर है**—कभी नाशको प्राप्त नही होता—**उसको 'मोक्षसुख' कहते हैं।'**

व्याख्या—यहाँ, सच्चे सुखका विवेक कराते हुए, मोक्ष-सुखका जो स्वरूप दिया है वह बहुत कुछ स्पष्ट है। घातियाकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय हैं, जिनकी क्रमशः ५, ६, २८, ५ उत्तरप्रकृतियाँ हैं और उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियोंका मूलोच्छेद होने पर आत्माके जो अनन्तज्ञानादि चार महान् गुण प्रादुर्भूत होते हैं, उन्हींमें अनन्त-सुख नामका गुण भी है जो स्वाधीन है—स्वात्मासे भिन्न किसी भी इन्द्रियादि दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं रखता—और विना किसी विघ्न-बाधाके सदा स्थिर रहता है। यही घातियाकर्मो के क्षय-से उत्पन्न हुआ अनन्तसुख मोक्षसुख कहलाता है। इस सुखका **'आत्मायत्त'** विशेषण सर्वोपरिमुख्य है, शेष सब विशेषण इसी एक विशेषणके स्पष्टीकरण-रूपमें हैं। जो सुख स्वात्माधीन न होकर पराधीन है वह वस्तुतः सुख न होकर दुःख ही है। इसीसे

सुख-दुःखका संक्षिप्त लक्षण स्वाधीन और पराधीनकी दृष्टि पर ही अवलम्बित रहता है, जिसकी सूचना श्रीअमितगति-आचार्यने भी अपने 'योगसारप्राभृत' में निम्न वाक्य-द्वारा की है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
वदन्तीति समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥६-१२॥

लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'। अतः जो स्वात्माधीन सुख है वही वस्तुतः सुख है और उसीका नाम मोक्षसुख इसलिये कहा गया है कि वह घातिया-कर्मोंके बन्धनसे मुक्त होने पर ही प्रादुर्भूत होता है।

सांसारिक सुखका लक्षण

यत्तु सांसारिकं[1] सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्व-पर-द्रव्य-संभूत तृष्णा-सन्ताप-कारणम् ॥२४३॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभ-निबन्धनम् ।
दुःख-कारण-बन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥

'**और जो रागात्मक सांसारिक सुख है वह अशाश्वत है**—स्थिर रहनेवाला नहीं—,**स्वद्रव्य और परद्रव्यसे** (मिलकर) **उत्पन्न हुआ है**—इसीलिये स्वाधीन नहीं—,**तृष्णा तथा सन्तापका कारण है, मोह-द्रोह और क्रोध-मान-माया-लोभका साधन है और दुःखके कारण बन्धका हेतु है, इसलिये** (वस्तुतः) **दुःखरूप ही है।**'

व्याख्या—यहाँ दूसरे इन्द्रियजन्य सांसारिक-सुखका जो स्वरूप दिया है वह पराधीन, बाधा-सहित, नश्वर और घातिया-

---

1 मु संसारिकं ।

कर्मोंके प्रभावको लिये हुए होनेसे मोक्षसुखके विपरीत है। उसे दुःखके हेतुभूत बन्धका कारण होनेसे वस्तुतः दुःखरूप ही बतलाया है। इस विषयमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके प्रवचनसारकी 'सपरं बाधा-सहियं' इत्यादि गाथा भी ध्यानमें लेने योग्य है, जिसे चौथे पद्यकी व्याख्यामें पाद-टिप्पणी (फुट नोट) द्वारा उद्धृत किया जा चुका है।

इन्द्रिय-विषयोंसे सुख मानना मोहका माहात्म्य

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत्सुखम् ।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भितम् ॥२४५॥

'**इन्द्रिय-विषयोंसे भी जो सुख माना जाता है वह मोहका ही माहात्म्य है**—जो विषयोंसे सुख मानता है समझना चाहिये वह मोहसे अभिभूत है। (जैसे) **पटोल** (कटु वस्तु) **भी जिसे मधुर मालूम होती है तो वह उसके श्लेष्मा** (कफ) **का माहात्म्य है**—समझना चाहिये उसके शरीरमें कफ बढ़ा हुआ है।

व्याख्या—पिछले एक पद्य (२४१)में शिष्यकी जिस मान्यताको मोह बतलाया गया था उसीको यहाँ एक उदाहरण-द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार पटोल (पड़वल पत्र) जैसी कड़वी वस्तु भी यदि किसीको मधुर मालूम होती है तो वह उसके कफाधिक्यका माहात्म्य है उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयोंमें भी जो वास्तविक सुख मानता है तो वह उसके मोहका ही माहात्म्य है, जिसने उसके विवेकको विकृत कर रक्खा है।

यहाँ इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली किसी सन्तकी एक दूसरी उक्ति भी ध्यानमें लेने योग्य है, जो इस प्रकार है:—

सर्प-डसो तब जानिये जब रुचिकर नीम चबाय ।
कर्म-डसो तब जानिये जब जैन-बैन न सुहाय ॥

इसमें यह भाव दर्शाया है कि जिस प्रकार किसी मनुष्यको कोई विषधर सर्प काट लेता है तो वह निम्बवृक्षके कड़वे पत्तोंको भी रुचिसे चबाने लगता है—उसे वे पत्ते कड़वे मालूम न होकर मधुर जान पड़ते हैं—और उसका यह रुचिसे नीम चबाना इस बातका प्रमाण होता है कि उसे अवश्य ही सर्पने डसा है, किसी दूसरे जन्तुने नहीं। उसी प्रकार जिस मानवको जैन-सन्तोंका इन्द्रिय-विषयोंमें सुखका निषेधक वचन अच्छा मालूम नहीं होता और वह उसके विपरीत विषय-सुखको ही सुख समझता है तो समझना चाहिये कि वह महामोहरूप कर्म-विषधरका डसा है, जिससे उसका विवेक ठीक काम नहीं करता।

मुक्तात्माओंके सुखकी तुलनामें चक्रियों-देवोंका सुख नगण्य

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम् ।
कलयाऽपि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥२४६॥

'जो सुख यहाँ—इस लोकमें-चक्रवर्तियोंको प्राप्त है और जो सुख स्वर्गमें देवोंको प्राप्त है वह परमात्माओंके सुखकी एक कलाके—बहुत ही छोटे अंशके—भी बराबर नहीं है।'

व्याख्या—यहाँ मुक्तिको प्राप्त परमात्माके सुखकी ऊँचे से ऊँचे सांसारिक सुखके साथ तुलना करते हुए यह घोषित किया गया है कि जो सुख चक्रवर्तियो तथा स्वर्गोंके देवोंको प्राप्त है, वह मुक्तात्माओंके सुखके एक छोटेसे अंशकी भी बराबरी नहीं कर सकता और इस तरह मुक्तात्माओंके सुख-माहात्म्यको यहाँ और विशेषरूपसे ख्यापित किया गया है।

मुक्तात्माओंका 'परमात्मा' रूपमें जो उल्लेख यहाँ किया गया है वह जैन-शासनकी अपनी विशेषता है; क्योंकि जैन-शासनमें एकेश्वरवादियोंकी तरह किसी एक व्यक्तिविशेषको ही परमात्मा

नहीं माना गया है। उसकी दृष्टिमें सभी मुक्तजीव परमात्मा हैं—चाहे वे जीवन्मुक्त हों या विदेहमुक्त। जीवन्मुक्तोंको शरीर-सहित होनेके कारण सकल-परमात्मा और विदेहमुक्तोंको शरीर-रहित होनेके कारण निष्कल-परमात्मा कहते हैं। इससे परमात्मा एक नहीं किन्तु अनेक हैं, यही 'परमात्मनाम्' पदके बहुवचनात्मक प्रयोगका आशय है।

पुरुषार्थोंमें उत्तम मोक्ष और उसका अधिकारी स्याद्वादी

अतएवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते।
'स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्म-विद्विषाम्॥२४७॥

'इसी लिये सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष उत्तमपुरुषार्थ माना जाता है। और वह मोक्ष स्याद्वादियोंके-अनेकान्तमतानुयायियोंके-ही बनता है, दूसरे एकान्तवादियोंके नहीं, जो कि अपने शत्रु आप हैं।'

व्याख्या—चूँकि मोक्षसुखकी तुलनामें संसारका बड़े से बड़ा सुख भी नगण्य है इसी लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें मोक्षपुरुषार्थको उत्तम माना गया है। यह मोक्ष-पुरुषार्थ किनके बनता है? कौन इसके स्वामी अथवा अधिकारी हैं? इस शंकाका समाधान करते हुए, यहाँ यह स्पष्ट घोषणा की गई है कि यह मोक्षपुरुषार्थ स्याद्वादियों-अनेकान्तवादियोंके ही बनता है, एकान्तवादियोके नहीं—भले ही एकान्तवादी इसके कितने ही गीत क्यों न गावें। यहाँ एकान्तवादियोंको स्वशत्रु बतलाया है जो स्वशत्रु हों उनका परशत्रु होना स्वाभाविक ही है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने एकान्ताग्रह-रक्तोंको स्व-पर-वैरी

१. युक्तं स्याद्वादिनां ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदम्।
(आर्ष २१-२५८)

बतलाया है और यह स्पष्ट घोषणा की है कि उनके कुशल (सुख-हेतुक), अकुशल (दुःखहेतुक) कर्म और लोक-परलोकादिककी कोई व्यवस्था नहीं बनती[1]। इस विषयमें 'स्व-पर वैरी कौन ?' नामक निबन्ध जो 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण १ में तथा 'समन्तभद्र-विचार-दीपिका' मे प्रकट हुआ है, खास तौरसे देखने योग्य[2] है।

यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिये कि स्याद्वादी उन्हें कहते है जो स्याद्वाद न्यायके अनुयायी हैं अथवा 'स्यात्' शब्दकी अर्थ-दृष्टिको लेकर वस्तु-तत्वका कथन करनेवाले हैं। 'स्यात्' शब्द सर्वथारूपसे—सत् ही है, असत् ही है, नित्य हो है, अनित्य हो है इत्यादि रूपसे—प्रतिपादनके नियमका त्यागी और यथादृष्टको—जिस प्रकार सत् असत् आदि रूपसे वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको—अपेक्षामें रखनेवाला होता है[3]। इसीसे स्याद्वाद सर्वथा एकान्तका त्यागी होनेसे कथचिदादि-रूपसे वस्तु-की व्यवस्था करता है अस्ति-नास्ति आदि सप्तभंगात्मक नयोकी अपेक्षाको साथमें लिये रहता और मुख्य-गौणकी कल्पनासे हेय तथा उपादेयका विशेषक होता है[4]। स्याद्वादको अनेकान्त-वाद भी कहते हैं।

---

१. कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ ! स्व-पर-वैरिषु ॥ देवागम ८

२. 'युगवीर-निबन्धावली'में भी उसे देखा जा सकता है।

३. सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम् ॥ स्वयंभू० १०२

४. स्याद्वादः सर्वथैकान्त-त्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ॥
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ —देवागम १०४

एकान्तवादियोंके बन्धादि-चतुष्टय नहीं बनता

यद्वा बन्धश्च मोक्षश्च तद्धेतू[1] च चतुष्टयम् ।
नास्त्येवैकान्त-रक्तानां तद्व्यापकमनिच्छताम् ॥२४८॥

'अथवा बन्ध और मोक्ष, बन्धहेतु और मोक्षहेतु यह चतुष्टय —चारोंका समुदाय—उन एकान्त-आसक्तोंके—सर्वथा एकान्त-वादियोंके—नहीं बनता, जो कि चारोंमें व्याप्त होनेवाले तत्त्वको (अनेकान्तको) स्वीकार नहीं करते।'

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि सर्वथा एकान्त-वादियोंके केवल मोक्ष ही नहीं, किन्तु बन्ध, बन्धका कारण, मोक्ष और मोक्षका कारण ये चारों ही नहीं बनते; क्योंकि वे इन चारोंमें व्यापक तत्त्व जो 'अनेकान्त' है उसे इष्ट नहीं करते—नहीं मानते। वास्तवमें सारा वस्तु-तत्त्व अनेकान्तात्मक है और इससे वे बन्ध-मोक्षादिक भी अनेकान्तात्मक हैं। इनके आत्मा अनेकान्त-को न माननेसे इनका कोई अस्तित्व नहीं बनता। इसी बातको आगेके पद्योंमे स्पष्ट किया गया है।

इस अवसर पर इतना और जान लेना चाहिये कि स्वामी समन्तभद्रने इन चारोंका ही नहीं, किन्तु इनसे सम्बद्ध बद्धात्मा, मुक्तात्मा और मुक्तिफलके अस्तित्वका भी स्याद्वादियों (अनेकान्तवादियों) के ही विधान करते हुए एकान्तवादियोंके उन सबके अस्तित्वका निषेध किया है, जैसा—कि उनके स्वयम्भू-स्तोत्र-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४

इससे स्पष्ट है कि जो सर्वथा एकान्तवादी हैं—सर्वथा भाव,

1. च तद्धेतू च ।

अभाव, नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि एकान्त-पक्षोंको लिए हुए हैं—उनके बन्ध-मोक्षादिकी कथनी वस्तुतः बनती नहीं अथवा ठीक नहीं बैठती—भले ही वे उसके कितने ही गीत क्यों न गाया करें।

बन्धादि-चतुष्टयके न बननेका सहेतुक स्पष्टीकरण

अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र[1] क्रमाऽक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयाऽस्तित्वं चतुष्टये ॥२४९॥
मूल-व्याप्तुर्निवृत्तौ तु क्रमाऽक्रम-निवृत्तितः।
क्रिया-कारकयोर्भ्रंशान्न स्यादेतच्चतुष्टयम् ॥२५०॥
ततो व्याप्ता समस्तस्य प्रसिद्धश्च प्रमाणतः।
चतुष्टय-सदिच्छद्भिरनेकान्तोऽनुगम्यताम्[2] ॥२५१॥

'इस चतुष्टयमें अनेकान्तात्मकत्वके साथ क्रम और अक्रम व्याप्त हैं, क्रम और अक्रमके साथ अर्थक्रिया व्याप्त है और अर्थ-क्रियाके साथ चतुष्टयका अस्तित्व व्याप्त है। मूल व्याप्ता अनेकान्तकी निवृत्ति होनेपर क्रम-अक्रम नहीं बनते, क्रम-अक्रमके न बननेसे अर्थक्रिया नहीं बनती और अर्थक्रियाके न बननेसे यह (बन्ध-मोक्ष और उभय हेतुरूप) चतुष्टय नहीं बनता। अतः उक्त चतुष्टयके अस्तित्वकी इच्छा रखनेवालोंको सारे चतुष्टय-का जो व्याप्ता और प्रमाणसे प्रसिद्ध 'अनेकान्त' है उसका सविवेक-ग्रहण-पूर्वक अनुसरण करना चाहिये।'

व्याख्या—पिछले पद्यमें सर्वथा एकान्तवादियोंके बन्धादि-चतुष्टयके न बननेकी जो बात कही गई है वह क्यों नहीं बनती, उसीको यहाँ प्रथम दो पद्योंमें स्पष्ट किया गया है और फिर

---

१. ब व्याप्त्या चाथ। सि जु व्याप्तावेतौ। २. मु मे ज्ञा ब अवगम्यताम्।

तीसरे पक्षमें यह कहा गया है कि जो बन्धादि-चतुष्टयके अस्तित्वको अपने मतमें बनाये रखना चाहते हैं उन्हें अनेकान्तको समझ-बूझकर अपनाना चाहिये, जो कि चतुष्टयके प्रत्येक अंगमें व्याप्त है और प्रमाणसे भी प्रसिद्ध है।

किसी भी वस्तुका वस्तुत्व उसकी अर्थक्रियाके विना नहीं बनता। यदि अर्थक्रिया होती है तो उसमें क्रम-अक्रमका होना अवश्यंभावी है; क्योंकि वस्तु गुण-पर्यायरूप है ('गुणपर्ययवद्द्रव्यं') जिसमें गुण सदा सहभावी एवं सर्वांगव्यापी होनेसे अक्रम (युगपत्) रूपसे रहते हैं और पर्यायें क्रमवर्तिनी होती हैं। इसीसे अर्थक्रिया क्रम-अक्रम उभय रूपको लिये रहती है—पर्यायों या विशेषोंकी दृष्टिसे वह क्रमरूप और गुणों या द्रव्य-सामान्यकी दृष्टिसे अक्रम (यौगपद्य) रूप कही जाती है। जो लोग वस्तुतत्त्वको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक (अनित्य) आदि एकान्तरूप मानते हैं उनके मतमें यह क्रम-अक्रम तथा बन्ध-मोक्षकी बात नहीं बनती। सर्वथा नित्यत्वका एकान्त मानने पर वस्तुमें किसी प्रकारकी विक्रिया हो घटित नहीं होती—कोई प्रकारका परिणमन ही नहीं बनता—वह सदा कूटस्थवत् एक रूपमें ही स्थिर रहती है और कर्ता-कर्म-करणादि कारकोंका पहले ही अभाव होता है[1]। क्योंकि जब सब कुछ सर्वथा नित्य है; किसीका बनना, बिगड़ना, करना, कराना, उत्पन्न होना आदि कुछ नहीं; तब कारकोंकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? ऐसी स्थितिमें किसी जीवके पुण्य-पाप क्रिया, क्रियाका फल, जन्मान्तर सुख-दुःख

---

१. "नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥" — देवागम ३७

"भावेषु नित्येषु विकार-हानेर्न कारक-व्यापृत-कार्ययुक्तिः।
न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयं ॥"
—युक्त्यनुशासन ८

और बन्ध-मोक्षकी बात कैसे बन सकती है[१] ? नहीं बन सकती। बन्धको यदि सर्वथा नित्य माना जाय तो वह कारणजन्य नहीं ठहरता, इससे बन्धहेतु नहीं बनता तथा बन्धके अभावरूप मोक्ष नहीं बन सकता और मोक्षको सर्वथा नित्य मानने पर मोक्षहेतु नहीं बनता और न उसको बन्धपूर्वक कोई व्यवस्था ठीक बैठती है। एक ही जीवके बन्ध भी सर्वथा नित्य और मोक्ष भी सर्वथा नित्य ये दोनों विरोधी बातें घटित नहीं हो सकती, और इसलिये बन्धादि-चतुष्टयकी बात उनके मतमें किसी तरह भी संगत नहीं कही जा सकती।

क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप अनित्यत्वका एकान्त माननेवालोंके भी किसी जीवके स्वकृत कर्मके फलस्वरूप सुख-दुःख, जन्मान्तर और बन्ध-मोक्षादिकी बात नहीं बनती। इस मान्यतामें प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और अनुमान जैसे ज्ञानोंका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ भी नहीं बनता, फलकी बात तो दूर रही[२]। और कार्यको सर्वथा असत् माना जानेसे—उपादानकारणमें भी उसका कथंचित् अस्तित्व स्वीकार न किया जानेसे—कार्यकी उत्पत्ति आकाशके पुष्पसमान नहीं बनती, उपादान कारणका कोई नियम नहीं रहता और इसलिये गेहूँ बोयेंगे तो गेहूँ ही उत्पन्न होंगे ऐसा कोई आश्वासन नहीं बनता—सर्वथा असत्का उत्पाद होनेसे गेहूँके स्थान पर चना आदि किसी दूसरे अन्नादिका

१. पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात् प्रेत्यभाव: फलं कुत: ।
बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नाऽसि नायकः ॥

—देवागम ४०

२. क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥

—देवागम ४१

उत्पाद भी हो सकता है[1]। ऐसी स्थितिमें उक्त बन्धादि-चतुष्टयकी कोई बात ठीक नहीं बैठती। एक ही क्षणवर्ती जीवके बन्ध और मोक्ष दोनों घटित नहीं हो सकते[2]।

अद्वैत-एकान्तपक्षकी मान्यतामें शुभाशुभकर्मद्वैत, सुख-दुःख-फलद्वैत और लोक-परलोकद्वैतकी तरह बन्ध-मोक्षका द्वैत भी नहीं बनता। तब बन्ध-मोक्षके हेतुओंका द्वैत तो स्वतः ही रद्द हो जाता है। किसी भी प्रकारके द्वैतको स्वीकार करनेसे अद्वैत एकान्तको बाधा पहुँचती है। इसी तरह सर्वथा पृथक्त्वादि दूसरे एकान्त-पक्षोंमें भी बन्धादि-चतुष्टयके न बन सकनेकी बातको भले प्रकार समझा जा सकता है। इसके लिये तथा प्रकृतविषय-को विशेष जानकारीके लिये स्वामी-समन्तभद्रके देवागम और उसके अष्टसहस्री आदि टीकाग्रन्थों तथा युक्त्यनुशासन जैसे ग्रन्थोंको देखना चाहिये। यहाँ पर ग्रन्थकारमहोदयने जो कुछ सक्षेपमें कहा है वह बहुत हो जँचा-तुला है।

ग्रन्थमे ध्यानके विस्तृत वर्णनका हेतु

सारश्चतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः स ध्यानपूर्वकः[3]।
इति मत्वा मया किंचिद्ध्यानमेव प्रपंचितम् ॥२५२॥

'इस चतुष्टयमें भी जो सारपदार्थ है वह मोक्ष है, और वह ध्यानपूर्वक प्राप्त होता है—ध्यानाराधनाके विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती—यह मानकर मेरे द्वारा ध्यान-विषय ही थोड़ा प्रपंचित हुआ अथवा कुछ स्पष्ट किया गया है।'

---

१. यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्माऽजनि खपुष्पवत्।
मोपादान-नियमोभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥—देवागम ४२

२. न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ। —युक्त्यनु० १५

३. मु व सद्ध्यानपूर्वकः।

व्याख्या—यहाँ यह बतलाया गया है कि जिस बन्धादि-चतुष्टयका पिछले चार पद्योंमें उल्लेख है उसमें भी मोक्ष पदार्थ सारभूत है—अर्थात् पुरुषार्थ चतुष्टयमें ही वह उत्तम अथवा सारभूत नहीं, किन्तु इस चतुष्टयमें भी वह उत्तम एवं सारभूत है। साथ ही यह सूचना की गई है कि चूँकि मोक्षकी प्राप्ति ध्यानपूर्वक होती है—बिना ध्यानके वह नहीं बनती—इसलिये ध्यानके विषयको ही यहाँ थोड़ेसे विस्तार-द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध-विच्छेदरूप अभावका नाम मोक्ष है। कर्मोंका यह अभाव अथवा विश्लेषण ध्यानाग्निसे उन्हें जलानेके द्वारा बनता है। पवनसे प्रज्वलित हुई अग्नि जिस प्रकार चिरसंचित ईंधन (तृण-काष्ठादिके समूह) को शीघ्र भस्म कर देती है, उसी प्रकार ध्यानाग्नि भी चिरसंचित अपार कर्मराशिको क्षण भरमें भस्म करनेके लिये समर्थ होती है[1]। अथवा जिस प्रकार सारे शरीरमें व्याप्त हुआ विष मंत्र-शक्तिसे खींचा जाकर दूर किया जाता है, उसी प्रकार सारे आत्म-प्रदेशोंमें व्याप्त हुआ कर्मरूपी विष ध्यान-शक्तिसे खींचा जाकर नष्ट किया जाता है[2]। ध्यानाग्निके बिना योगी कर्मोंको जलाने या विदीर्ण करनेमें उसी प्रकार असमर्थ होता है जिस प्रकार नख और दाढ़से रहित सिंह गजेन्द्रोंका विदारण करनेमें असमर्थ होता है[3]। जो साधु बिना ध्यानके कर्मों को क्षय करना चाहता है उसकी स्थिति

१. जह चिर संचियमिंधणमनलो पवनसहियो दुयं दहइ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणानलो डहइ॥ (ध्यानशतक)

२. सर्वाङ्गीणं विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते।
तद्वत्कर्मविषं कृत्स्नं ध्यानशक्त्याऽपसार्यते॥ (आर्ष २१-२१३)

३. झाणेण विणा जोई असमत्थो होइ कम्मणिद्दहणे।
दाढा-णहर-विहीणो जह सीहो वर-गयंदाणं॥ (ज्ञानसार)

देवसेनाचार्यने उस पदविहीन पंगु-मनुष्य-जैसी बतलाई है जो मेरु-शिखर पर चढ़ना चाहता है[1]। इससे स्पष्ट है कि विना ध्यानके दु:खहेतुक-कर्मोंसे छुटकारा अथवा मोक्ष नहीं बनता और इसीसे उसे यहाँ ध्यानपूर्वक तथा अन्यत्र (प० ३३ में) निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके मोक्षमार्गकी प्राप्तिका आधार बतलाया है और यही ध्यानके विषयको इस ग्रन्थमें प्रपंचित करनेका प्रधान हेतु है।

ध्यानविषयकी गुरुता और अपनी लघुता

यद्यप्यत्यन्त-गम्भीरमभूमिर्मादृशामिदम् ।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यान-भक्ति-प्रचोदितः ॥२५३॥

'यद्यपि यह ध्यान-विषय अत्यन्त गम्भीर है और मेरे जैसोंकी यथेष्ट पहुँचसे बाहरकी वस्तु है, तो भी ध्यान-भक्तिसे प्रेरित हुआ मैं इसमें प्रवृत्त हुआ हूँ।'

व्याख्या—यहाँ आचार्यमहोदयने ध्यान विषयकी गुरुता-गम्भीरता और अपनी लघुताका ज्ञापन करते हुए अपनी ध्यान-भक्तिको ही इस ध्यान-विषयके प्रपंचनमें प्रधान कारण बतलाया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकारमहोदय ध्यान और उसकी शक्तियोंके विषयमें सच्ची श्रद्धा-भक्ति रखते थे। वही इस ग्रन्थके निर्माणमें मुख्यतः प्रेरक हुई है।

रचनामें स्खलनके लिये श्रुतदेवतासे क्षमा-याचना

यदत्र स्खलितं किंचिच्छाद्मस्थ्यादर्थ-शब्दयोः ।
तन्मे भक्तिप्रधानस्य क्षमतां श्रुतदेवता[2] ॥२५४॥

---

१. चलण-रहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरुसिहरमारुहिउं ।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥ (तत्त्वसार)

२. ब श्रुतदेवताः ।

'इस रचनामें छद्मस्थताके कारण अर्थ तथा शब्दोंके प्रयोगमें जो कुछ स्खलन हुआ हो या त्रुटि रही हो उसके लिये श्रुत-देवता मुझ भक्तिप्रधानको क्षमा करें।'

व्याख्या—यहाँ ग्रन्थकारमहोदय, अपनेको भक्ति-प्रधान बतलाते हुए, अपनी उस थोड़ी सी भी त्रुटि अथवा भूलके लिये श्रुतदेवतासे क्षमा-याचना करते हैं जो छद्मस्थता-असर्वज्ञताके कारण इस ग्रन्थमें अर्थों तथा शब्दोंके विन्यासमें हुई हो। इससे ग्रन्थ-रचनामें अहंकारके त्यागपूर्वक विनम्रताका ज्ञापन होता है।

यहाँ श्रुतदेवताका अभिप्राय उस सरस्वतीदेवी जिनवाणी-से है जो श्रीअर्हज्जिनेन्द्रके मुख-कमलमें वास करती है और जिस-से उस श्रुतकी सम्यक् उत्पत्ति होती है जो पापोंका नाश करने-वाला है, जैसा कि 'पापभक्षिणी-विद्या' के मंत्र 'ॐ अर्हन्मुख-कमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन०' जैसे पदोंसे प्रकट है। अतः श्रुतविषयक भूलों एवं त्रुटियोंके लिये, जो कभी-कभी भक्तोंसे अल्पज्ञतावश हो जाया करती हैं, उस श्रुतके अधिष्ठातृदेवसे क्षमा-याचना करना शिष्टजनोंके लिए न्यायप्राप्त है और ऐसे विनम्रशील भक्तजन अपनी भूल तथा गलतीके लिए क्षमाके पात्र होते ही हैं। इसी बातको 'मे भक्तिप्रधानस्य' पदोंके प्रयोग-द्वारा सूचित किया गया है।

भव्यजीवोंको आशीर्वाद

वस्तु-याथात्म्य-विज्ञान-श्रद्धान-ध्यान-सम्पदः ।
भवन्तु भव्य-सत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥२५५॥

'वस्तुओंके याथात्म्य (तत्त्व) का विज्ञान, श्रद्धान और ध्यान-

रूप सम्पदाएँ भव्य-जीवोंकी अपनी स्वस्वरूपोपलब्धिके लिए कारणीभूत होवें।'

व्याख्या—यहाँ आचार्यमहोदयने जो आशीर्वाद दिया है वह बड़ा ही महत्वपूर्ण है—इससे अधिक महत्वका आशीर्वाद और क्या हो सकता है? इसमें कहा गया है कि भव्यजीवोंको वस्तुओं-के यथार्थविज्ञानकी, यथार्थश्रद्धानकी और यथार्थध्यानकी सम्पत्ति प्राप्त होवे और ये तीनों सम्पत्तियाँ उनकी स्वरूपोपलब्धि (मोक्षप्राप्ति) मे सहायक बनें। स्वस्वरूपकी उपलब्धि ही सबसे बड़ा लाभ है। वह जिन तीन प्रधान कारणों-द्वारा सिद्ध होता है उनके उल्लेखपूर्वक यहाँ भव्यजीवोंको उसी लाभसे लाभान्वित होनेकी उत्कट भावना करते हुए उन्हें तदनुरूप आशीर्वाद दिया गया है।

ग्रन्थकार-प्रशस्ति

श्रीवीरचन्द्र-शुभदेव-महेन्द्रदेवाः
शास्त्राय यस्य गुरवो विजयामरश्च।
दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेन-[1]मुनिरुद्ध-चरित्रकीर्तिः ॥२५६॥
तेन [2]प्रबुद्ध-धिषणेन गुरूपदेश-
मासाद्य सिद्धि-सुख-सम्पदुपायभूतम्।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
[3]श्रीरामसेन-विदुषा व्यरचि स्फुटार्थम् ॥२५७॥

'जिसके श्रीमान् वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव

---

१. मु मुनिरुद्ध। २. मु प्रवृद्ध; सि जु प्रसिद्ध। ३. जु मे श्री नागसेन।

शास्त्रगुरु (विद्यागुरु) हैं, पुण्यमूर्ति और ऊँचे दर्जेके चरित्र तथा कीर्तिको प्राप्त श्रीमान् नागसेन जिसके दीक्षागुरु हुए हैं उस प्रबुद्धबुद्धि श्रीरामसेन विद्वान्ने, गुरुवोंके उपदेशको पाकर, इस सिद्धि-सुख-सम्पतके उपायभूत तत्त्वानुशासन-शास्त्रको, जो कि स्पष्ट अर्थसे युक्त है, जगतके हितके लिये रचना की है।'

व्याख्या—इन प्रशस्ति-पद्योमें ग्रन्थकारमहोदय श्रीरामसेन-ने अपने शास्त्रगुरुवो और दीक्षागुरुका नामोल्लेख किया है और अपने द्वारा इस ग्रन्थके रचे जानेकी सूचना की है। चारो शास्त्र-गुरुवोके नामोल्लेखमें किसीभी नामके साथ किसी खास विशेषण पदका प्रयोग नही किया गया, जिससे यह मालूम होता कि वे अमुक शास्त्रके विशेषज्ञ थे अथवा अमुक सघ या गण-गच्छसे सम्बन्ध रखते थे। दीक्षागुरुके नामके साथ दो विशेषण पदोका प्रयोग किया गया है—एक '**पुण्यमूर्ति**' और दूसरा '**उद्घचरित्र कीर्ति**'—,जिनसे मालूम होता है कि नागसेनाचार्य पुण्यात्मा और ऊंचे दर्जेके चरित्रवान् तथा कीर्तिमान् थे। अपने लिये दो साधारण विशेषण पदोका प्रयोग किया है—एक '**प्रबुद्धधिषरोन**' और दूसरा '**विदुषा**', जो यथार्थ जान पडते हैं। '**गुरूपदेशमासाद्य**' पदका सम्बन्ध '**प्रबुद्धधिषरोन**' और '**व्यरचि**' दोनो पदोके साथ लगाया जा सकता है। प्रथम पदके साथ उसे सम्बन्धित करनेसे यह अर्थ होता है कि श्रीरामसेन अपने गुरुवोंके उपदेशको पाकर बुद्धिके विकासको प्राप्त हुए थे, जो कि ग्रन्थ परसे स्पष्ट है, और दूसरे पदके साथ सम्बन्धित करने पर यह अर्थ होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ उन्होने अपने दीक्षागुरु अथवा किसी दूसरे गुरु या गुरुवोके उपदेश एव उनकी प्रेरणासे रचा है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थके दो विशेषण दिये हैं—एक '**सिद्धिसुखसम्पदुपायभूत**' दूसरा '**स्फुटार्थम्**'। पहला विशेषण बडा ही महत्वपूर्ण है और वह ग्रन्थ-के प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे बहुत ही अनुरूप एवं यथार्थ जान

पड़ता है। दूसरा विशेषण ग्रन्थकी शब्द-रचनासे सम्बन्ध रखता है, और वह कठिन गूढ़ शब्दोंके प्रयोगसे रहित अर्थकी स्पष्टता-को लिये हुए है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'जगतो हिताय' पद ग्रन्थ-निर्माणके उद्देश्यको व्यक्त करता है, जो कि जगतका हित-साधन है और यह ग्रन्थके पद-पद परसे व्यक्त होता है। सारा ग्रन्थ जगतके हितकी चिन्ता और उसमें अपना ज्ञान उँडेल देनेकी सद्भावनाको लिये हुए है। इस तरह प्रत्येक विशेषणादि-पद जँचा-तुला एवं अतिशयोक्तिसे रहित मालूम होता है और ऐसा होना ग्रन्थ और ग्रन्थकारकी बहुत बड़ी प्रामाणिकताका द्योतक है।

अन्त्य-मंगल[1]

जिनेन्द्राः सद्ध्यान-ज्वलन-हुत-घाति-प्रकृतयः
प्रसिद्धाः सिद्धाश्च प्रहत-तमसः सिद्धि-निलयाः।
सदाऽऽचार्या वर्याः सकल-सदुपाध्याय-मुनयः
पुनन्तु स्वान्तं नस्त्रिजगदधिकाः पंचगुरवः ॥२५८॥

'वे अर्हज्जिनेन्द्र, जिन्होंने प्रशस्त ध्यानाग्निके द्वारा घातिया-कर्मोंकी प्रकृतियोंको भस्म किया है; वे प्रसिद्ध सिद्ध, जिन्होंने (विभावरूप) अन्धकारका पूर्णतः विनाश किया है तथा जो (स्वात्मोपलब्धि-रूप) सिद्धिके निवास-स्थान हैं; वे श्रेष्ठ आचार्य और वे सब प्रशंसनीय उपाध्याय तथा मुनि-साधु, जो तीन लोकके सर्वोपरि गुरु पंचपरमेष्ठी हैं, वे हमारे अन्तःकरणको सदा पवित्र करें—उनके चिन्तन एवं ध्यानसे हमारा हृदय पवित्र हो।'

व्याख्या—यहाँ अन्त्य-मंगलके रूपमें पंच गुरुवोंका स्मरण

---

१. अन्त्यमंगलके दोनों पद्य सि जु प्रतियोंमें नहीं हैं।

करके यह प्रार्थना अथवा भावना की गई है कि ये पंच गुरु हमारे चित्तको पवित्र करें—उनके चिन्तन, ध्यान एवं सान्निध्यसे हमारा हृदय पवित्र होवे। जो स्वयं पवित्र होते हैं, वे ही अपने सम्पर्क-द्वारा दूसरोंके हृदयको विना इच्छा एवं प्रयत्नके भी पवित्र करनेमे समर्थ होते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि दोषोको शान्त करके आत्मामें शान्ति स्थापित करनेवाले महात्माजन शरणागतोंके लिये शान्तिके विधाता होते हैं[1]। जिन पंच गुरुवोंका यहाँ स्मरण किया गया है वे ऐसे ही पवित्रताकी मूर्ति महात्मा हैं, जिनके नाम-स्मरणमात्रसे हृदयमें पवित्रताका सचार होने लगता है, फिर सचाईके साथ ध्यानादि-द्वारा सम्पर्क-स्थापनकी तो बात ही दूसरी है, वह जितना यथार्थ एवं गाढ होगा उतना और वैसा ही उससे पवित्रताका संचार हो सकेगा।

'पचगुरवः' पदका अभिप्राय यहाँ केवल पाँचकी संख्या-प्रमाण गुरुव्यक्तियोंका नही है, किन्तु पाँच प्रकारके गुरुवोंका वह वाचक है, जिन्हें 'पचपरमेष्ठी' कहते हैं। जैसा कि ग्रन्थमें अन्यत्र 'तत्रापि तत्त्वतः पंच ध्यातव्याः परमेष्ठिनः' (११९), 'तत्सर्वं ध्यातमेव स्याद्ध्यातेषु परमेष्ठिसु' (१४०) जैसे वाक्योंसे व्यक्त है, और वे अर्हन्त (जिनेन्द्र), सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुपदोंके वस्तुतः अधिकारी हैं, जिनमेंसे प्रत्येककी संख्या अनेकानेक है। इसीसे प्रत्येकका उल्लेख बहुवचनान्त-पदोंके द्वारा किया गया है। और इसीलिये उक्तपदका आशय ग्रन्थकारके उन पांच गुरुवोका नही है जिनका प्रशस्तिमें 'शास्त्रगुरु' तथा 'दीक्षागुरु'के रूपमे नामोल्लेख है। हाँ, आचार्य, उपाध्याय तथा

१. स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानां।
—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्रः

मुनिके रूपमें श्लेष-द्वारा उनका भी समावेश उसमें किया जा सकता है। इस विषयमें **'त्रिजगदधिकाः'** यह विशेषणपद खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है, जो प्रस्तुत गुरुवोंकी सारे विश्वमें उच्चस्थितिका द्योतक है। इस विशेषणसे वे अपने-अपने पदकी पूर्णताको प्राप्त होने चाहियें, तभी उनका ग्रहण यहाँ हो सकेगा।

जिन जिनेन्द्रादि-गुरुवोंका इस पद्यमें स्मरण किया गया है, उनके अन्य विशेषणपद भी खास तौरसे ध्यानमें लेने योग्य हैं, जो उनका तन्नामधारी पदाधिकारियोंसे पृथक् बोध कराते हैं। जिनेन्द्रो–अर्हन्तोंका एक ही विशेषण दिया गया है और वह है 'प्रशस्त-ध्यानाग्नि-द्वारा घातियाकर्मोंकी प्रकृतियोंको भस्म करनेवाले।' घातियाकर्मोंकी मूल प्रकृतियाँ चार हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय—जिनकी आगमोक्त उत्तर-प्रकृतियाँ क्रमशः ५, ६, २८, ५ हैं और उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इन चारों घातिया-कर्मप्रकृतियोंका उत्तरोत्तर-प्रकृतियों-सहित पूर्णतः विनाश हो जाने पर आत्मामें अनन्त-ज्ञानादि-चतुष्टय-गुणोंको प्रादुर्भूति होती है और जिसके यह प्रादुर्भूति होती है वही वास्तवमें सर्वज्ञ होता है; जैसाकि ग्रन्थके द्वितीय पद्यमें प्रकट किया गया है। 'जिन' तथा 'अर्हन्' नामके धारक कुछ दूसरे भी हुए हैं; परन्तु वे घातिकर्म-चतुष्टयको भस्म कर अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयको प्राप्त करनेवाले नहीं हुए। अतः इस विशेषणपदसे उनका पृथक्करण हो जाता है।

सिद्धोंके तीन विशेषण दिये गये हैं, जिनमें **'प्रसिद्धाः'** विशेषण प्रकर्षतः–पूर्णतः सिद्धत्वका द्योतक है, अपूर्ण तथा अधूरे सिद्ध जो लोकमें विद्या-मंत्र-देवतादि किसी-किसी विषयको लेकर 'सिद्ध' कहे जाते हैं उनका इस विशेषणसे पृथक्करण हो जाता है।

'प्रहततमसः' विशेषण उस अन्धकारके पूर्णतः विनाशका सूचक है जो कर्मपुद्गलोंके सम्पर्कसे आत्मामें वैभाविक-परिणमनके रूपमें होता है, और इसलिये जिनका वैभाविक-परिणमन सर्वथा विनष्ट हो गया है उन्ही सिद्धोंका इस विशेषणपदके द्वारा यहाँ ग्रहण है। तीसरा विशेषण **'सिद्धिनिलया.'** उस सिद्धिके निवास-स्थानरूपका वाचक है जो सारे विभाव-परिणमनके अभाव हो जाने पर स्वात्मोपलब्धिके रूपमें प्राप्त होता है। जैसा कि श्री-पूज्यपादाचार्यके **'सिद्धि· स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादि-दोषापहारात्'** इस वाक्यसे प्रकट है। इन तीनों विशेषणोंसे उन सिद्धोका स्पष्टीकरण तथा अन्योंसे पृथक्करण हो जाता है जिनका इस पद्यमे ग्रहण है। इसी तरह आचार्योंका **'वर्याः'** और उपाध्यायो तथा साधु-मुनियोंका **'सत्'** विशेषण उस अर्थका निर्देशक है जिसका ग्रन्थमें 'अन्यत्र (१३०) **'यथोक्तलक्षणाः ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाधवः'** इस वाक्यके **'यथोक्तलक्षणा.'** पदमें उल्लेख है। इससे आचार्यपरमेष्ठीको आगमोक्त ३६ गुणोंसे सम्पन्न, उपाध्यायपरमेष्ठीको २५ गुणोसे विशिष्ट और साधु-परमेष्ठीको २८ मूलगुणोसे पूर्णतः युक्त समझना चाहिये; जैसा कि उक्तवाक्यकी व्याख्यामे बतलाया जा चुका है।

देहज्योतिषि यस्य मज्जति जगद् दुग्धाम्बुराशाविव
ज्ञान-ज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामों भूर्भुवः स्वस्त्रयी।
शब्द-ज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थाश्चकासन्त्यमी
स श्रीमानमरार्चितो जिनपतिर्ज्योतिस्त्रयायाऽस्तु नः ॥२५९

इति श्रीनागसेनसूरि-दीक्षित-रामसेनाचार्य-प्रणीत
सिद्धि-सुखसम्पदुपायभूतं तत्त्वानुशासनं
नाम ध्यान-शास्त्रं समाप्तम् ।

'जिसकी देह-ज्योतिमें जगत ऐसे डूबा रहता है जैसे कोई क्षीरसागरमें स्नान कर रहा हो, जिसकी ज्ञान-ज्योतिमें भूः (अधोलोक), भुवः (मध्यलोक) और स्व (स्वर्गलोक) यह त्रिलोकीरूप ज्ञेय (ओम्[1]) अत्यन्त स्फुटित होता है और जिसकी शब्द ज्योति (वाणीके प्रकाश) मे ये स्वात्मा और परपदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिभासित होते हैं वह देवोंसे पूजित श्रीमान् जिनेन्द्रभगवान् तीनों ज्योतियोंकी प्राप्तिके लिये हमारे सहायक (निमित्तभूत) होवें।'

व्याख्या—यह पद्य भी अन्त्य मगलके रूपमे है। इसमे जिनेन्द्र-(अर्हन्तदेव) को तोन ज्योतियोके रूपमे उल्लेखित किया है—एक देहज्योति, दूसरी ज्ञानज्योति और तोसरी शब्दज्योति। देह-ज्योतिका अभिप्राय उस द्युतिसे है जो केवलज्ञानादिरूप अनन्त-चतुष्टयकी प्रादुर्भूतिके साथ शरीरके परमऔदारिक होते हो प्रभामण्डलके रूपमे सारे शरीरसे निकलती है। उस देहज्योतिमें जगतके मज्जनकी जो बात कही गई है उससे उतना ही जगत ग्रहण करना चाहिये जहाँ तक वह ज्योति प्रसारित होती है, और उसे दुग्धाम्बुराशिकी जो उपमा दी गई है उससे यह स्पष्ट है कि वह दुग्धवर्ण-जैसी शुक्ल होती है। ज्ञानज्योतिका अभिप्राय उस आत्मज्योतिका है जिसमे सारे जगतके सभी चराचर पदार्थ यथावस्थितरूपमे प्रतिबिम्बित होते हैं—कोई भो पदार्थ अज्ञात नही रहता। और शब्दज्योतिका तात्पर्य उस दिव्यध्वनिरूप वाणीका है जो ज्ञानज्योतिमे प्रतिबिम्बित हुए पदार्थोंकी दर्पणके

---

१ 'ओम् यह अव्यय-शब्द 'ज्ञय' अर्थमे भी प्रयुक्त होता है, ऐसा 'शब्दस्तोममहानिधि' कोशके निम्न उल्लेखसे जाना जाता है और वही यहाँ सगत प्रतीत होता है —

"ओम्—प्रणवे,आरम्भे, स्वीकारे।
अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मंगले, शुभे, ज्ञेये, ब्रह्मणि च।"

समान यथार्थवाचिका होती है। इस प्रकार त्रिविध-ज्योतिसे युक्त और देवोसे पूजित अर्हत्परमात्माका स्मरण करके जो प्रार्थना की गई है वह ग्रन्थकारमहोदयकी ज्योतित्रयरूप अर्हत्पर-मात्मा बननेकी भावनाका द्योतन करती है।

यहाँ भगवज्जिनसेनाचार्य-शिष्य-श्रीगुणभद्राचार्यप्रणीत-उत्तरपुराण-गत-कुन्थुजिन-चरितके अन्तिम मंगलपद्यका स्मरण हो आना है, जो इस प्रकार है:—

देहज्योतिषि यस्य शक्रसहिताः सर्वेऽपि मग्नाः सुराः
ज्ञानज्योतिषि पंचतत्त्वसहितं मग्नं नभश्चाखिलम्।
लक्ष्मीधाम दधद्विधूय विततं-ध्वान्तं स धामद्वयं।
पंथानं कथयत्वनन्तगुणभृत्कुन्थुर्भवान्तस्य वः ॥(६४-५५)

इसमें कुन्थुजिनेन्द्रका स्मरण करते हुए उनकी दो ज्योतियोंका ही उल्लेख किया है—एक देहज्योति और दूसरी ज्ञानज्योति। देहज्योतिमे इन्द्रसहित सब देवताओंको निमग्न बतलाया है, जो उनके समवशरणादिको प्राप्त हुए हैं, और ज्ञानज्योतिमे पंच-तत्त्व (द्रव्य तथा भूत) सहित सारे आकाशको व्याप्त प्रकट किया है। तीसरी शब्दज्योतिका कोई उल्लेख नहीं किया। इस ज्योतिका उपर्युक्त उल्लेख यहाँ ग्रन्थकारकी अपनी विशेषताको लिये हुए जान पडता है। शब्दात्मक भी ज्योति होती है इसका बादको श्रीशुभचन्द्राचार्यने अपने ज्ञानार्णव-ग्रन्थके निम्न पद्यमें उल्लेख किया है :—

यस्माच्छब्दात्मकं ज्योतिः प्रसूतमतिनिर्मलम्।
वाच्य-वाचक-सम्बन्धस्तेनैव परमेष्ठिनः ॥ ३८-३२ ॥

इसमें शब्दात्मक-ज्योति और परमेष्ठीका परस्पर वाच्य-वाचक सम्बन्ध है ऐसा उल्लेख किया है और यह बात 'अर्हं-मित्यक्षर-ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः' तथा 'शब्दब्रह्म परब्रह्मके वाचक-वाच्य नियोग' जैसे वाक्योंसे भी जानी जाती है। वाच्यके वाचक-रूप 'नामध्येय'के अन्तर्गत जिन मंत्रपदोंका इस ग्रन्थ (पद्य नं० १०८ आदि) में तथा अन्यत्र पदस्थध्यानके वर्णनमें उल्लेख है, वे सब ध्वनिरूप शब्दज्योतियाँ हैं जो अर्हन्तादिकी वाचक हैं। अर्हन्तजिनेन्द्रका दिव्यध्वनिरूप सारा ही वाङ्मय शब्दज्योतिके रूपमें स्थित है।

भाष्यका अन्त्यमंगल और प्रशस्ति

मोहादिक रिपुवोंको जिनने, जीत 'जिनेश्वर' पद पाया;
वीतराग-सर्वज्ञ-ज्योतिसे, मोक्षमार्गको दर्शाया।
उन श्रीमहावीरको जिसने, भक्तिभावसे नित ध्याया;
आत्म-विकास सिद्ध कर उसने, निर्मल-शास्वत-सुख पाया ॥१॥

गुरु समन्तभद्रादिक प्रणमूँ, ज्ञान-ध्यान-लक्ष्मी-भर्तार;
जिन-शासनके अनुपम सेवक, भक्ति-सुधा-रस-पारावार।
जिनकी भक्ति प्रसाद बना यह, रुचिर-भाष्य सबका हितकार;
भरो ध्यानका भाव विश्वमें, हो जिससे जगका उद्धार ॥२॥

अल्पबुद्धि 'युगवीर' न रखता, ध्यान-विषय पर कुछ अधिकार;
आत्म-विकास-साधनाका लख ध्यान-क्रियाको मूलाधार।
रामसेन-मुनिराज-विनिर्मित, ध्यान-शास्त्र सुख-सम्पत-द्वार;
उससे प्रभवित-प्रेरित हो यह, रचा भाष्य आगम-अनुसार ॥३॥

पढ़ें-पढ़ावें सुनें-सुनावें, जो इसको आदरके साथ;
प्रमुदित होकर चलें इसी पर, गावें सदा आत्म-गुण-गाथ।
आत्म-रमण कर स्वात्मगुणोंको; औ' ध्यावें सम्यक् सविचार;
वे निज आत्म-विकास सिद्ध कर, पावें सुख अविचल-अविकार॥४॥

इस प्रकार श्रीनागसेनसूरिके दीक्षित-शिष्य-रामसेनाचार्य-
विरचित सिद्धि-सुख-सम्पतका उपायभूत तत्त्वानुशासन
नामक ध्यानशास्त्र सानुवाद-व्याख्यारूप
भाष्यसे अलंकृत समाप्त हुआ।